अनन्त की ओर

अनन्त नाम है उस परमेश्वर का जो अन्तरहित है, जो नाशरहित है, विनाशरहित है, अर्थात् जो अविनाशी है, सदा स्थिर है, सदा वर्तमान रहने वाला है। कभी भी जिसका अन्त नहीं होता, कभी भी जिसका नाश नहीं होता, कभी भी जो समाप्त नहीं होता, वही तो अनन्त कहाता है। जो असीम है, सीमारहित है, जिसकी कोई सीमा नहीं है, जिसका कोई ओर-छोर ही नहीं है। अर्थात् जो व्यापक है, सर्वव्यापक है, वही तो अनन्त नाम वाला सब से प्यारा और सब से न्यारा परमेश्वर है।

अनन्त नाम है उस [1]'विष्णु' का जो चराचर जगत् में सर्वत्र व्यापक है, जो कण-कण और क्षण-क्षण में सर्वत्र समाया हुआ है, अर्थात् कोई ऐसा कण नहीं जिसमें कि वह विष्णु न हो, कोई ऐसा क्षण नहीं जिसमें कि वह विष्णु विद्यमान न हो। ऐसा जो विष्णु है, ऐसा जो भगवान् है, ऐसा जो ईश्वर है, ऐसा जो परमेश्वर है, वही अनन्त है, वही अन्तरहित है, वही सीमारहित है। ऐसे उस अनन्त, अविनाशी, असीम परमेश्वर की ओर हमें जाना है। वह भी इसलिये कि उसको छोड़कर शेष सब कुछ जितना भी है, वह सब सान्त है, अन्तवत् है, अन्तवाला है, नश्वर है, विनश्वर है, क्षणभङ्गुर है। हममें से प्रत्येक स्वयं भी सान्त है, अन्तवाला है, नश्वर है; विनश्वर है। कोई भी तो हममें से ऐसा नहीं है जो कि स्थिर हो,

---

१ वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगदिति विष्णुः व्यापकः परमेश्वरः।

टिकाऊ हो। अपनी स्वयं की इस स्थिति को देखकर ही हम में से प्रत्येक का लगभग सारा जीवन किसी स्थिर की, किसी दृढ़ की, किसी टिकाऊ की, किसी अन्तरहित की, किसी अविनाशी की शरण लेने की खोज में व्यतीत हो जाता है। इसी खोज में न जाने मनुष्य किस-किस का आश्रय लेता है, न जाने किस-किस का पल्ला पकड़ता है, न जाने किस-किस के द्वार पर पहुँचता है, न जाने किस-किस की अंगुली पकड़ता है। पर एक-एक कर के वे सबके सब उससे अंगुली छुड़ा-छुड़ा कर, पल्ला छुड़ा-छुड़ा कर चल देते हैं। इस सारे जीवन में जिस-जिस का भी यह मनुष्य आश्रय लिये हुये होते हैं, वे निरन्तर उससे परे को सरकते ही रहते हैं। कभी-कभी तो यह मनुष्य ऐसा अनुभव करने लगता है कि अब की बार जो इसने आश्रय पाया है, अब की बार इसने जिसका सहारा लिया है, वह सब प्रकार से टिकाऊ है, स्थिर है। परन्तु बहुत ही शीघ्र जब इसको यह पता लगने लगता है कि यह आलम्बन भी अस्थिर ही है, तो तब यह बड़ा ही उदास होता है, बड़ा ही निराश होता है, बड़ा ही हताश होता है। ऐसी दशा में भी पुनः बहुत शीघ्र ही यह फिर किसी ऐसे आश्रय, किसी ऐसे आलम्बन की खोज में लग जाता है कि जो अनन्त हो, अन्तरहित हो, अविनाशी हो, असीम हो, सीमा-रहित हो, अद्वितीय हो, व्यापक हो ......। ऐसे प्यारे और सब जग से न्यारे परम तत्व की खोज में वह निकल तो पड़ता है, परन्तु वह मिले तो कहाँ मिले, बाहर वा भीतर ? फिर मिले तो कैसे मिले .. ? इतना तो यह समझ ही लेता है, इतना तो यह जान ही लेता है कि उसी अनन्त-अविनाशी, कण-कण और क्षण-क्षण में विराजमान रहने वाले परमेश्वर की शरण में जाने से इस को पुनः उदास नहीं होना पड़ेगा। क्योंकि इस के लिये वही एक स्थायी आश्रय

होगा, वही एक स्थिर आलम्बन होगा। [2]उपनिषद् के शब्दों में वह सबसे ज्येष्ठ और सबसे श्रेष्ठ सहारा होगा। फिर उसके उपलब्ध हो जाने पर जो निश्चिन्तता आयेगी, जो दृढ़ता आयेगी, जो स्थिरता आयेगी, जो प्रसन्नता आयेगी, जो निश्छलता आयेगी, जो निष्कपटता आयेगी, जो ऋजुता आयेगी, जो सरलता आयेगी, जो सौम्यता आयेगी, वह कहीं अन्यत्र सम्भव नहीं होगी। क्योंकि अन्य सभी सहारे जैसे अस्थिर हैं, अन्य सभी आश्रय जैसे क्षणभंगुर हैं, अन्य सभी आलम्बन जैसे नश्वर हैं, वैसे ही उन के आधार पर होने वाली निश्चिन्तता, स्थिरता, दृढ़ता, प्रसन्नता आदि भी सब क्षणिक रूप से ही होती हैं। इसलिये किसी प्रकार से इसी अनन्त-अविनाशी सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी भगवान् को जानने का-पाने का-साक्षात् करने का उपाय करना चाहिये।

यद्यपि यह अनन्त असीम अविनाशी परमेश्वर सर्वव्यापक है, सर्वत्र वर्तमान है, परन्तु उसको पाना चाहने वाला साधक तो सर्वव्यापक नहीं है। अतः वह उसका सर्वत्र साक्षात्कार नहीं कर सकता। वह तो केवल उस का अपनी हृद्गुहा में ही साक्षात्कार कर सकता है, क्योंकि वहाँ वे दोनों ही विद्यमान रहते हैं। बस जहाँ उसका साक्षात्कार हुआ वहाँ फिर न तो इस मनुष्य को कोई भय रहता है और न ही कोई शोक रहता है, न ही लोभ रहता है, और न ही मोह रहता है। उस समय तो उसके लिये बस सर्वदा-सर्वत्र सब प्रकार से आनन्द ही आनन्द हो जाता है। ऐसे आनन्द के अनुपम स्रोत अनन्त अविनाशी सर्वान्तर्यामी ब्रह्म को कैसे पाया जा सकता है, उसका वर्णन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में बहुत

---

२ एतदालम्बनं ज्येष्ठमेतदालम्बनं श्रेष्ठम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ कठोपनिषद् ॥

सुन्दर रूप से मिलता है। उसको हम सरलता से समझने के लिये ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१—ईश्वर के साक्षात् का अधिकारी।

२—ईश्वर का स्वरूप।

३—ईश्वर प्राप्ति के लिये सम्भूति-असम्भूति और विद्या-अविद्या का सम्यक् बोध।

४—तत्त्वबोध-शरीरात्मबोधपूर्वक ईश स्मरण।

५—ईशप्रणिधान-आत्मसमर्पण।

६—ब्रह्म साक्षात्कार-ईशानुभूति।

१—उस ब्रह्म की ओर जाने के लिये-उस अनन्त-असीम-अविनाशी सर्वव्यापक परब्रह्म परमेश्वर के जानने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि साधक इसका अधिकारी बने। और इसका अधिकारी वह बन सकता है जिसके जीवन में निम्नलिखित पाँच गुण हों—

(१) ईश्वर को सर्वत्र विद्यमान समझे।

(२) संसार के समस्त पदार्थों का उपभोग करते हुए भी मनुष्य हृदय से यही सोचे-यही विचारे कि यह सब कुछ उसी का ही है,

---

१ यजु० ४०.१ से ४०.३ तक।

२ यजु० ४०.४ से ४०.८ तक।

३ यजु० ४०.९ से ४०.१४ तक।

४ यजु० ४०.१५।

५ यजु० ४०.१६।

६ यजु० ४०.१७।

उसी ने ही उसे अपने कर्मानुसार यह सब कुछ प्रदान किया हुआ है। अतः उस साधक को केवल इस सब के भोगने का अधिकार है, इसके स्वामी बनने का नहीं। उसे चाहिए कि वह उस ईश्वर के न्याय से अपने कर्मों के अनुसार उपलब्ध हुए इस जाति–आयु–भोग आदि का सन्तोष पूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक उपभोग करे।

(३) साधक को चाहिये कि किसी दूसरे के धन–वैभव वा अधिकार को लेना तो दूर रहा, उसके लेने की तो वह इच्छा भी न करे।

(४) मनुष्य जब तक जिये तब तक कर्म करते हुए ही जिये। फिर कर्म भी सदा कर्त्तव्य समझकर ही करे। फल की आकांक्षाओं से सदा ऊपर उठा रहे।

(५) अन्तरात्मा के विपरीत आचरण कभी न करे, क्योंकि ऐसा करने से उसको ऐसी योनियों में जाना पड़ेगा जो अविद्या अन्धकार से आवृत होंगी।

(१) उस अनन्त-असीम अविनाशी ईश्वर को पाने के लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि मनुष्य उस का अधिकारी बने। अधिकारी मनुष्य तब बन सकता है जबकि वह वेदानुसार अपने हृदय में यह बिठाले, अपनी बुद्धि में यह जमा ले कि इस जगती में जो जगत् है, इस संसार में जो चराचर वस्तुएँ हैं, जो व्यक्ति और पदार्थ हैं, वे सब ईश्वर से आच्छादित हैं, अर्थात् ईश्वर उन सब में बसा हुआ है, व्यापक है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, संसार का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिसमें कि वह ईश्वर विराज–मान न हो। वस्तु, व्यक्ति की तो बात ही क्या कहें, वह तो संसार के कण-कण और क्षण-क्षण में बसा हुआ है, संसार का कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ कि वह विद्यमान न रहता हो, कोई भी ऐसा

समय नहीं जिसमें कि वह जगदीश्वर वर्तमान न रहता हो। वह तो सर्वदा सर्वत्र बना ही रहता है। ऐसा सोचकर ही, ऐसा विचार कर ही मनुष्य को चाहिये कि वह अपने सारे व्यवहार किया करे। क्योंकि इस मनुष्य में एक सब से बडी कमजोरी यह है कि जब यह कोई बुरा कार्य करना चाहता है तो उसके लिये यह कोई ऐसा स्थान खोजता है, कोई ऐसी जगह ढूंढता है, जहाँ कि कोई और न हो। फिर कोई ऐसा समय देखता है कि जब कि किसी अन्य के आने जाने की सम्भावना न हो। ऐसे समय एकान्त और निर्विघ्न स्थान पर ही यह किसी के साथ अपनी गुप्त मन्त्रणा करता है या कुत्सित कम करता है। यह सब कुछ करते हुए यह पहले भली-भाँति यह सब देख लेता है कि वहाँ हमारे अतिरिक्त कोई और तो नहीं है, कोई और अन्य तो हमारी परस्पर की कुत्सित कृति वा गुप्त मन्त्रणा आदि को तो नहीं देख-सुन रहा है। पर वेद ने स्पष्ट कह दिया है कि "द्वौ सनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः"— दो व्यक्ति किसी एकान्त स्थान पर बैठकर यह सोचकर जो मन्त्रणा कर रहे होते हैं कि हमें कोई तृतीय नहीं जान रहा है, हमें कोई तृतीय नहीं देख-सुन रहा है, तो उन्हें भली-भाँति यह जान लेना चाहिए कि सब संसार का अधिष्ठाता राजा वरुण उन दोनों के मध्य में वर्तमान हुआ-हुआ उन की उस सब गुप्त मन्त्रणा को, उन के उस सब निन्दित कर्म को जान रहा होता है देख-सुन रहा होता है। इस से स्पष्ट हुआ कि संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं, कोई भी ऐसा प्राणी नहीं, जो किसी भी समय, किसी भी स्थान पर, कोई भी ऐसा कार्य कर सके जो कि उस ईश्वर से छुपा हुआ हो; क्योंकि वह तो सर्वदा सर्वत्र व्यापक रहता है और सब के भले-बुरे कर्मों को सदा सर्वत्र देख रहा होता है।

अब जिस दिन से, जिस घड़ी से मनुष्य को भली-भाँति यह

ज्ञान हो जाता है, भली–भाँति यह भान हो जाता है कि वह अनन्त–असीम–अविनाशी परमेश्वर उसे सर्वत्र-सब जगहों में, सर्वदा-सब समयों में भली–भाँति देख रहा है, उसके सर्वविध क्रिया-कलापों को जान रहा है, और उसका वह सही–सही हिसाब रख रहा है, तो फिर वह जीवन में सब बुराईयों से, सब दुर्गुणों से, सब दुर्व्यसनों से, सब प्रकार के पाप और अपराधों से सहज स्वभाव से बचने लगता है ।

इसके विपरीत यदि किसी मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता, यह बोध नहीं होता कि ईश्वर सर्वदा सर्वत्र व्यापक रहता है, और उसे केवल इतना ही पता रहता है कि वह ईश्वर यदि है, खुदा यदि है, परमेश्वर यदि है, तो केवल मन्दिर, मस्जिद वा गिरजे, गुरुद्वारे आदि में है। तो ऐसा व्यक्ति जो उस ईश्वर को-जो उस अनन्त–अविनाशी परमेश्वर को एक देशी समझता है, उसे तो फिर मन्दिर मस्जिद गुरुद्वारे आदि से बाहर सर्वत्र पाप और अपराध करने का अवसर मिल सकता है। वह तो फिर अपने कुकृत्यों के लिए इन सामान्य मनुष्यों की आँखों से ओझल होकर किसी एकान्त और निर्विघ्न स्थान को तलाश कर सकता है और वहाँ नित्य-प्रति दुर्गुण-दुर्व्यसनों को, पापों-अपराधों को कर सकता है, परन्तु ईश्वर को व्यापक समझने वाला तो यह सब कुछ कभी भी नहीं कर सकता ।

दो विद्यार्थी थे जो एक गाँव से प्रतिदिन दूसरे गाँव में पढ़ने जाते थे। एक दिन जब वे पढ़ने के बाद अपने घर लौटकर आ रहे थे, तो रास्ते में उन्होंने गन्नों के खेत देखे। उनके मुख में पानी भर आया। उन दोनों में से एक ने कहा कि "आओ गन्ने चूसें ।" दूसरा बोला कि "कहीं कोई देख न ले" । पहला बोला– "अरे कौन

देखेगा ? चलो, दोनों गन्नों के खेत में भीतर घुस जाते हैं, वहीं अन्दर ही अन्दर दो चार गन्ने चूस कर फिर घर चलेंगे। एक इधर घुस गया दूसरा उधर। एक ने देखा कि "अब तो मैं मार्ग से बहुत भीतर की ओर आ गया हूँ अतः अब कोई मार्ग पर चलने वाला भी मुझे नहीं देख सकता और खेत वाला भी यहाँ मुझे नहीं देख सकता। बस अब मैं यहाँ पूर्णतया अकेला हूँ चाहे जितने गन्ने चूस लूं। पर एक बात है गुरुजी कहते थे कि भगवान् हमारी सब बुराईयों को देखता है---- । पर वह यहाँ थोड़े ही है जो मुझे देख रहा है। वह तो मन्दिर में है। इतनी दूर से भला वह मुझे कैसे देख लेगा ? अत: यह पूर्ण एकान्त है चाहे मैं जितने गन्ने चूस लूं।" और इस प्रकार वह एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा गन्ना चूसता गया। पर दूसरा जो दूसरी ओर गया था उसने भी देखा कि "मैं अब ऐसी जगह पहुँच गया हूँ जहाँ कोई राहगीर भी मुझे नहीं भाँप सकता और न ही खेत का स्वामी मुझे देख सकता है।" पर वह ज्यों ही गन्ने की ओर हाथ बढ़ाता है तो उसे लगता है कि जैसे उसे कोई रोक रहा हो कि "ऐसा मत करो यह बुरी बात है।" वह हाथ पीछे को हटा कर इधर-उधर झाँकता है कि आखिर यह कौन है ? कहाँ है ? कहीं पास में वह लुक-छिप तो नहीं रहा है ? बहुत ध्यान से देखने पर भी जब उसे कोई दिखाई नहीं दिया, तो भी फिर उसने कुछ और आगे बढ़ कर एक सुन्दर से गन्ने की ओर हाथ बढ़ाया। परन्तु यहाँ पर भी उसे ऐसा लगा कि जैसे कोई यह बोला हो। "ऐसा मतकर, यह चोरी है। दूसरे की वस्तु को इस प्रकार चुराकर सेवन करना बड़ा भारी पाप है–अपराध है------।" इस प्रकार वह फिर सहमा, और इधर-उधर देखा तो उसे फिर कोई दिखाई नहीं दिया। झट उसे ध्यान आया कि 'हमारे गुरु जी कहा करते हैं कि भगवान् मनुष्य को चोरी आदि पापकर्मों

से बचाता है, फिर तो कहीं सचमुच वह भगवान् तो यहाँ नहीं आ गया है ? अरे भगवान् यहाँ कहाँ आ सकता है ? वह तो मन्दिर में रहता है, जहाँ मैं रोज उस के दर्शन करता हूँ, उस के सम्मुख सिर झुकाता हूँ, पुजारी से प्रसाद पाता हूँ। वह भगवान् भला यहाँ कहाँ से आ गया ! और आ भी गया होता तो क्या वह दिखाई नहीं देता ? अतः यहाँ कोई नहीं है।" बस यह सोचते ही वह फिर दूसरी ओर आगे बढ़ कर गन्ने की ओर फिर हाथ बढ़ाता है ··। इस प्रकार फिर जब वह हाथ बढ़ाता है तो अब की बार····"तू इस प्रकार पराई वस्तु चुराकर सेवन करता है यदि तेरी वस्तु इस प्रकार कोई चुराए तो तुझे कैसा लगेगा - ?" अब की बार तो यह गन्ना छोड़कर सीधा ही खेत के बाहर आकर खड़ा हो गया। दूसरा साथी तो खूब गन्ने चूस कर आया और अपने इस साथी से पूछने लगा कि— "क्या तू ने गन्ने चूस लिये ?" तो इस पर वह बोला कि "मेरे से तो एक भी गन्ना नहीं चूसा गया।" दूसरा बोला, "क्यों ? क्या किसी ने देख लिया था ?" हाँ, मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे कोई मुझे देख ही नहीं रहा था वरन् बराबर मुझे रोक भी रहा था, इसलिये मेरे से एक भी गन्ना नहीं चूसा गया।" यद्यपि पहले के मन में यह द्वन्द्व हुआ था पर उसने सोचा—"अजी कौन देख रहा है यहाँ मुझे ?" और गन्ने तोड़े और चूसने लगा। पर दूसरे को तो ऐसा लगा कि जैसे कोई ऐसा स्थान ही नहीं हो जहाँ कि उसको कोई देख न रहा हो और इस गन्ने की चोरी से रोक न रहा हो। इसलिये वह गन्ना चूस ही न सका।

इस प्रकार जो उस अनन्त परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी समझता है और उसे सर्वत्र अनुभव करता है तो फिर उसके लिए पाप और अपराधों को करने के लिए न तो कोई एकान्त स्थान मिल सकता है और न ही कोई एकान्त समय मिल सकता है। इसलिये वह

सर्वदा सर्वत्र पापों से बच जाता है, अपराधों से बच जाता है, दुर्गुण-दुर्व्यसनों में बच जाता है। अब जब कि वह पापों-अपराधों, दुर्गुण-दुर्व्यसनों से बच जाता है तो फिर उसके परिणामस्वरूप होने वाले ताप, सन्तापों से, कष्ट-क्लेशों से, आपत्ति-विपत्तियों से भी बच जाता है। इसके विपरीत जो उस अनन्त ईश्वर को परिच्छिन-एक देशीय मान कर वा मन्दिर-मस्जिद, गिरजे-गुरुद्वारे में ही विद्यमान समझने वाला केवल इन प्राणियों की ही आँखों से ओझल हो कर वा छिप कर ऐसे-ऐसे पाप करता है, ऐसे-ऐसे अपराध करता है कि आगे चल कर प्रभु की न्याय-व्यवस्था से वह घोर कष्ट पाता है, बड़ा दुःख पाता है और धीरे-धीरे दुःख-दौर्भाग्यों के कारण प्रभु की दृष्टि में ही नहीं वरन् अन्य सब की दृष्टि में भी गिर जाता है। इस लिए साधक को चाहिए कि वह यह अच्छी प्रकार से मन में बिठा ले कि इस सारे ब्रह्माण्ड में-इस सारी जगती में-इस सारे संसार में एक सत्ता ऐसी है, एक तत्त्व ऐसा है कि जो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहता है, जो सदा सब जगह वर्तमान रहता है। और वह तत्त्व ईश्वर इतना महान् है, इतना दिव्य है कि उसका कोई अन्त नहीं पा सकता है, उसका कोई पार नहीं पा सकता है। ऐसा अनन्त, असीम, अविनाशी परमेश्वर जहाँ इस सब संसार में सर्वत्र व्यापक है, जहाँ इस सब संसार में सर्वत्र विद्यमान है, वहाँ इस सब संसार का स्वामी भी है, अधिष्ठाता भी है।

ऐसे सकल संसार के स्वामी परमेश्वर से जो कुछ भी मनुष्य को उपलब्ध हो, उसे चाहिए कि सन्तोष से उनका उपभोग करे। पर उपभोग करते समय भी उस मानव को यह सदा ध्यान रहे कि अपने कर्मों के अनुरूप जो कुछ भी प्रभु ने उसे प्रदान किया हुआ हो, वह चाहे शरीर हो, आकृति हो, माता हो, पिता हो, बहनें हों,

भाई हो, अन्य बन्धु-बान्धव हों, धन-धान्य हो, घर-परिवार हो, पत्नी-पुत्र-पौत्र हों, भूमि-भवन हों, तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी उस प्रभु ने प्रदान किया हो, उस ही का वह सन्तोष पूर्वक उपभोग करे। यह नहीं कि वह अपने शरीर को असुन्दर और दूसरों के शरीर को सुन्दर देखकर अपने भाग्य को कोसता रहे या वह अपनी स्थिति को दूसरों की स्थिति से हीन देखकर ईर्ष्या करता रहे। अथवा वह अपनी कार-कोठी को, धन-वैभव, को, पुत्र-कलत्र को, जमीन-जायदाद को दूसरों की अपेक्षा न्यून देखकर अपने को भाग्यहीन समझे, अपनी किस्मत को रोये, भगवान् को उलाहना दे या अन्यों से ईर्ष्या-डाह करे, तो यह उचित नहीं है। क्योंकि जब उसे अपने धन-वैभव पर, अपने पुत्र-कलत्र पर, अपनी कार-कोठी पर, अपनी प्रतिष्ठा पर, अपने मान-सम्मान पर ही सन्तोष नहीं होगा और वह दूसरों के धन-वैभव आदि पर डाह-ईर्ष्या करता रहेगा तो फिर भला कैसे वह उस प्रभु प्राप्ति के पथ पर चलने का अधिकारी बन सकेगा, भला कैसे उसका मन तब शान्त और एकाग्र तथा ध्येयाभिमुख हो सकेगा? इस लिये साधक को चाहिए कि जो कुछ भी उसके कर्मों के अनुसार प्रभु उसे प्रदान करे, उसका वह सन्तोषपूर्वक उपभोग करे। सन्तोषपूर्वक ही नहीं वरन् उसका त्यागपूर्वक भी उपभोग करे। क्योंकि ऐसे ही वह साधना के पथ पर अग्रसर हो सकेगा। इस बात को हम यों समझ सकते हैं—

एक व्यक्ति है जिसके तीन पुत्र हैं, एक पुत्री है। प्रभु कृपा से उसका व्यापार भी खूब चल रहा है। घर में सभी बच्चों के अंग प्रत्यंग ठीक-ठाक हैं, सभी बच्चे सुन्दर हैं, स्वस्थ हैं, कार्य-कुशल हैं, व्यवहारों में निपुण हैं। घर में तीन-चार कमरे हैं, स्टोर हैं, दो रसोईयाँ हैं, दो स्नानागार हैं, रेड़ियो है, फ्रिज है,

टेलीविजन है, कार है इत्यादि। घर निजी है अर्थात् किराये का नहीं है। आभूषण इतने हैं कि सबको अच्छी प्रकार से विवाहों में दे देने पर भी पर्याप्त बचे रहते हैं। वस्त्र एक से एक मूल्यवान् एवं सुन्दर पहनने को हैं। प्रातः-दोपहर-सायं-रात तो खाने को निश्चित है ही, पर रात को इच्छानुसार दूध आदि भी पी लेते हैं एवं इसके अतिरिक्त दिन में व रात में चाहे जब खा-पीकर मौज मार सकते हैं। ऐसे एक व्यक्ति से जब मैं पूछता हूँ—कि क्या हाल है ? तो मेरे पूछने पर वह यह उपर्युक्त सब कुछ बतलाता है। इस पर मैं उससे पूछता हूँ कि "फिर तो सब तरह से आप ठीक-ठाक हो न ?" वह बोला—"वैसे तो सब ठीक-ठाक है, रहने को सुन्दर मकान भी अपना है; उसमें पर्याप्त सुख–सुविधायें आदि भी हैं, किसी प्रकार की कुछ विशेष दिक्कत नहीं है, पर ?" मैंने पूछा ? "यह 'पर' क्या ?" तो वे बोले—"बात यह है कि वैसे तो सब तरह से गुजारा बहुत अच्छा चल रहा है पर देखो न ! मेरे प्रतिवेशी-पड़ोसी का मकान दुमंजिला है और मेरा एक मंजिला। इसलिए अगर मेरा भी मकान दुमंजिला बन जाता तो बिल्कुल ठीक हो जाता।" इस पर मैंने कहा—"यदि आपका मकान दुमंजिला हो जाए तब तो आप सन्तुष्ट हो जाओगे ?" वह बोला— हाँ तब तो मैं बिल्कुल सन्तुष्ट हो जाऊँगा।"—"मैंने उससे कहा—पर ऐसा होगा नहीं, क्योंकि जब तुम्हारा सन्तोष दूसरों के आधार पर निर्भर होगा तो फिर मकान दुमंजिला बनने पर तिमंजिले मकान के प्रति तुम्हारा असन्तोष जागृत हो जायेगा" यही मुख्य ईर्ष्या की वृत्ति है जो मनुष्यों को अपने कर्मों के आधार पर मिले हुए शरीर, आयु और भोग के साधनों पर सन्तोष करने नहीं देती, उस पर सन्तोष से जीने नहीं देती। ऐसी परिस्थिति में जब हम उस अनन्त-असीम-अविनाशी प्रभु का ध्यान करते हैं

तो उस समय हमारा ध्यान प्रभु की ओर न जाकर पड़ोसी के दुमंजिले सुन्दर भवन की ओर जाता है। इसलिए जब तक हम अपने कर्मों के आधार पर प्रभु की न्याय-व्यवस्था से प्राप्त हुए धन-वैभव, पुत्र-कलत्र आदि पर संतोष का अनुभव नहीं करेंगे तब तक हम साधना के पथ पर चलने के अधिकारी ही नहीं बन सकेंगे। हाँ एक बात है, यदि वास्तव में अपनी आवश्यकताओं, अपनी परिस्थितियों के अनुसार वह स्थानादि हमें छोटा प्रतीत होता हो, वे कमरे हमें कम पड़ते हों, वह कोठी हमें छोटी लगती हो तो आवश्यकतानुसार बड़ी जगह लेने के लिए जी-जान से धन अर्जित करने के लिये हमें पुरुषार्थ करना चाहिए और फिर जैसा भी उस पुरुषार्थ से अर्जित धन आदि से सम्भव हो वैसा ही मकान-कोठी आदि बनवा लेनी चाहिए ।

मैंने उस सज्जन से जब यह पूछा कि "क्या दुमंजिला भवन तुम्हारा बन जायेगा तो तब तुम संतुष्ट हो जाओगे ?" इस पर वह बोला—लगता तो ऐसा ही है कि मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा ।" मैं ने उसे कहा कि तब तो आपकी पुनः बहुत जल्दी ही फिर यही दशा होगी और तब तुम पुनः दूसरों के तिमंजिले भवन को देखकर वा और अधिक सुन्दर भवन को देखकर फिर ऐसा ही सोचोगे कि तुम्हारा भी तिमंजिला मकान होना चाहिए इत्यादि ।" यह तो मैं ने एक निदर्शन दिया है। इस प्रकार की अनेकों घटनाएँ नित्य प्रति रोजाना हमारे सामने आती रहती हैं जिनके कारण हम व्यर्थ ही दुखी होते रहते हैं ।

एक व्यक्ति है जिसे मैं निरन्तर कई वर्षों से देखता हूँ कि वह अपने अधिक से अधिक, बढ़िया से बढ़िया धन-वैभव सुख-सौभाग्यों पर अपने पुत्र-पौत्रों पर, अपने बन्धु-बान्धओं पर, अपने मान-

सम्मानों पर, अपने सेवा-सत्कारों पर सन्तोष न करके सदा अपने भाग्य को कोसता रहता है, प्रभु को कोसता रहता है, तो ऐसा व्यक्ति भला साधना के क्षेत्र में कैसे प्रवेश कर सकेगा ? क्योंकि उसकी साधना में तो हर समय यही आता रहेगा कि 'देखो वह धनी है- मैं निर्धन हूँ; उसका लड़का बहुत सुन्दर है, मेरा काला है, उसका पुत्र सुयोग्य है मेरा अयोग्य है; वह स्वस्थ और बलवान् है, और मैं अस्वस्थ और निर्बल हूँ; उसकी लड़की पढ़ी-लिखी है, मेरी अनपढ़ रह गई है; उसकी कार नयी है, मेरी पुरानी है; उसकी कोठी नए ढंग की है, मेरी पुराने ढंग की है आदि-आदि। उसके पुत्र ने एम०ए० कर लिया और मेरे ने भी, पर देखो उसके पुत्र की तो सर्विस लग गई है पर मेरा तो अभी तक धक्के ही खा रहा है।" ये सब बातें ऐसी हैं जो मनुष्य को अपने कर्मों के आधार पर सन्तोष नहीं करने देतीं और सतत् उसकी दृष्टि को, निरन्तर उसकी वृत्ति को दूसरों के धन-वैभव आदि पर गढ़ाए रखती हैं और ईर्ष्या की अग्नि में उसे सदा जलाए रखती हैं। इसके परिणामस्वरूप उसका तो सामान्य लोक-व्यवहार भी अत्यन्त हेय और घृणित हो जाता है तो फिर ऐसी परिस्थिति में उसकी साधना और प्रभुचिन्तन कैसे चल सकता है, उसका साधना और प्रभु चिन्तन में भला मन कैसे लग सकता है ?

ऐसी ही परिस्थिति में एक दूसरा व्यक्ति है जो बहुत सुन्दर उत्तर देता है जब कि कोई दूसरा व्यक्ति उससे यह कहता है कि "देखो तुम्हारी कोठी कितनी घटिया है, तुम्हारी कार कितनी पुरानी है, तुम्हारा फर्नीचर तो न जाने कितना निम्न स्तर का है, न जाने कितना घटिया है, जब कि तुम्हारे भाई की नई कोठी है,

नई कार है, नया फर्नीचर है, सन्तान भी उसकी हर प्रकार से सुयोग्य है, सुन्दर है, स्मार्ट है……।" तो वह व्यक्ति बोलता है– "भाई साहब ! ठीक है कि यह उपर्युक्त सब कुछ भाई साहब का तो बहुत बढ़िया है और मेरा बिल्कुल ही साधारण है, परन्तु फिर भी अपनी इस पुरानी कोठी पर, इस पुराने भवन पर, इस पुरानी मोटर पर, अपने इस कम पढ़े-लिखे हुए साँवले पुत्र पर मुझे पर्याप्त सन्तोष है। क्योंकि यह सब कुछ, जो कुछ भी मुझे प्रभु से प्राप्त हुआ है वह सब कुछ मुझे मेरे ही कर्मों के अनुसार प्रभु ने प्रदान किया है। और जो कुछ भाई साहब को प्रभु ने प्रदान किया है वह सब उनके कर्मों के आधार पर ही उन्हें प्रदान किया है। अब चाहे वह नई कोठी हो, नई कार हो, सुन्दर सुयोग्य सन्तान हो वा मान-सम्मान आदि हो, वह सब उसके कर्मों का फल होने से उसको ही सुखदायक हो सकता है। पर मुझे भी जो कुछ प्रभु ने प्रदान किया हुआ है, वह मेरे कर्मों के अनुसार मुझे बहुत ही ठीक सब कुछ प्रदान किया हुआ है। मुझे उससे ही पर्याप्त सुख मिल रहा है और मैं उससे सन्तुष्ट हूँ। क्योंकि जब भी मुझे विश्राम देगी तो यह अपनी साधारण सी कोठी ही देगी, मुझे कहीं किसी उद्देश्य पर पहुँचायेगी तो अपनी यही साधारण सी कार ही पहुँचायेगी, मेरे जीवन में बुढ़ापे की लाठी बनेगा–वार्द्धक्य का सहारा बनेगा तो यही पुत्र ही बनेगा, भले ही यह साँवला क्यों न हो वा कुछ कम योग्य भी क्यों न हो। अतः दूसरे की कार–कोठी वा सुन्दर सुयोग्य सन्तान की अपेक्षा मेरे लिये तो यह ही सन्तान सुखद है, प्रिय है। ऐसे ही मेरी नारी–जीवनसंगिनी जो मुझे प्रभु ने प्रदान की है उस पर ही मुझे पर्याप्त सन्तोष है। क्योंकि इसी ने ही मेरा घर बसाया है, इसी ने ही मेरे घर के आँगन को हरा-भरा किया है, इसी ने ही मुझे सन्तान प्रदान कर मेरे घर को रुचिकर बनाया है, इसी ने ही मेरे बन्धु–बान्धवों एवं

परिचितों को यथोचित मान-सम्मान, सेवा सत्कार प्रदान कर मेरे कुल के यश को बढ़ाया है। इस प्रकार मुझे इन सब पर इतना सन्तोष है कि मैं बता नहीं सकता। यही कारण है कि मैं न तो इस के लिए कभी अपने भाग्य को कोसता हूँ और न ही अपने प्यारे तथा सब जग से न्यारे न्यायकारी प्राणप्रिय परमेश्वर को कोसता हूँ। हाँ कभी मुझे जब इसमे अधिक कुछ अभीष्ट होगा, जैसे पुत्र आदि का विवाह आदि करने पर बड़े मकान वा बड़ी सुन्दर नई कोठी आदि की आवश्यकता अनुभव होगी तो तब मैं अपने कार्य को और आगे बढ़ाऊँगा, जी-जान से उसमें पुरुषार्थ करूँगा और तब मेरे कर्मानुसार जो भी मुझे प्रभु प्रदान करेगा, मैं तदनुसार अपने लिए बड़ा मकान-कोठी आदि जो भी सम्भव होगी, अपनी स्थिति के अनुसार वह ले लूँगा। अब जिनसे मैं ईर्ष्या करता हूँ, उनके गुण कर्म स्वभाव तो और हैं और उन्हीं के अनुसार ही उनके सुख-सौभाग्य भी और हैं तथा मेरे सुख-सौभाग्य मेरे कर्मों के अनुसार हैं, तो फिर मैं क्यों ऐसा सोचूं कि मेरे पास भी वही सब कुछ ही होना चाहिए जो कि उन के पास है। हाँ युग के अनुरूप अपनी जो मैं आवश्यकता अनुभव करूँगा और यदि वह मेरी स्थिति के अनुरूप होगी तो मैं भी वह ले ही लूँगा। पर ऐसा ईर्ष्यालु होकर सोचना तो बहुत ही घृणित है। फिर मुझे तो चाहिए कि अपने को जो प्रभु ने अपने कर्मों के अनुसार प्रदान किया है मैं उस का भी सन्तोषपूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक उपभोग करूँ। औरों के धन-वैभव, सुख-सौभाग्यों पर ईर्ष्या की दृष्टि मेरे लिये करनी तो दूर रही, मुझे तो अपने कर्मानुसार उपलब्ध धन-वैभव, सुख-सौभाग्य को भी त्यागपूर्वक ही भोगना चाहिए। इसी से मैं उस अनन्त, असीम, अविनाशी ईश्वर के

पथ पर आगे बढ़ने का अधिकारी बन सकता हूँ, और मेरा तब जी भी उसकी उपासना में अच्छी प्रकार से लग सकेगा ।

इसी बात को यदि हम एक ही उदाहरण से समझना चाहें तो यों समझ सकते हैं–"कुछ समय पूर्व की एक घटना है–"एक परिवार में चार सदस्य हैं । पति पत्नी और दो बच्चे, एक पुत्र और एक पुत्री । सभी का जीवन बड़े सुख से व्यतीत हो रहा है । एक दिवस पिता अपने पुत्र से कहता है–"बेटा ! आज मैंने बाजार में कोट का एक बड़ा ही सुन्दर कपड़ा देखा । मुझे वह बहुत ही अच्छा लगा । ऐसा कर, फलाँ दुकान से तू वह कपड़ा लेकर अपने लिए एक सुन्दर कोट सिलवा ले । मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ।" इस पर बेटे ने कहा—"पिताजी ! वह कपड़ा कितने का आयेगा और उस पर सिलाई कितनी लगेगी ?" पिता बोला—"अस्तर बुक्रम आदि सब मिल–मिलाकर ९० रु० में आ जायेगा और ३० रु० अधिक से अधिक सिलाई में लग जायेंगे ।" पुत्र ने कहा—"पिताजी ! तब तो मैं वह बिल्कुल नहीं बनवाऊँगा ।" पिता—"क्यों" बेटा—"इसलिये कि मैं जानता हूँ कि आपका वेतन ६०० रु० है । उसमें से २०० रु० आप भविष्य में आने वाले दुःख–सुख के लिए रखते हैं, ३०० रु० में आप घर का खर्च चलाते हैं, १०० रु० से आप घर के प्रतिमास के अन्य खर्चे चलाते हैं । अर्थात् वस्त्र, जूते आदि की आवश्यकतायें पूर्ण करते हैं । ऐसी अवस्था में एकमास के उस सौ रुपये में तो पूज्या माताजी एवं आपका भाग अधिक ही होना चाहिए, पर चलो यदि सबके लिये बराबर–बराबर भी भाग कर दिया जाय तो भी चारों में से मेरे हिस्से में केवल २५) रुपये आते हैं । अब मैं ही यदि १२० रु० का इतना बढ़िया कोट सिलवा लूँ तो ऐसी दशा में मेरी पूज्या माताजी और मेरी प्यारी दीदी तथा आपका क्या बनेगा ? अतः २५ रु० में

जो भी स्वीटर आदि सम्भव हो, वही मुझे ले दो। मुझे उसी में ही बड़ा सन्तोष और सुख मिलेगा।" पिता बोला—

"बेटा ! मेरा मन करता है कि तू वही कोट बनवा ले। क्योंकि तू कालेज में पढ़ता है। जब तू उसको पहनेगा और तू सजेगा तो तुझे भी बहुत अच्छा लगेगा और हमें भी बहुत प्यारा लगेगा।" पुत्र ने कहा—

"पिताजी ! यह ठीक है कि उस कोट को पहनने से मेरा बाह्य तन भी खूब सजेगा, मैं उसे पहन कर कुछ अपने को अधिक सुन्दर और विशेष भी अनुभव करूँगा, पर पिताजी ! इससे मेरी सन्ध्या बिगड़ जायेगी।"

पिता—"बेटा ऐसा क्यों और कैसे ?"

बेटा—"पिताजी ! ऐसा इसलिए कि जब मैं अन्य तीनों व्यक्तियों के हिस्से पर–भाग पर छापा मारूँगा–अन्य तीनों के हक को ग्रहण कर अपने तन को अलंकृत करूँगा तो फिर भला मेरा मन सन्ध्या में कैसे लगेगा ? अतः मुझे तो २५ रु० में ही जो स्वीटर आदि उपलब्ध हो सके वही ले कर दे दो। मुझे उसमें ही पर्याप्त सन्तोष मिलेगा, पर्याप्त सुख मिलेगा और मेरी सन्ध्या भी उससे पूर्ववत् सम चलती रहेगी।"

पिता—"बेटा ! ऐसा करने पर भी तेरी सन्ध्या सम चलती रहेगी ! क्या उसमें तेरा कुछ उत्थान नहीं होगा।"

बेटा—"नहीं पिताजी !" तो फिर बेटा तेरी सन्ध्या-में तेरी उपासना में विकास कैसे होगा, कब होगा ?

बेटा—"पिताजी ! आपने बहुत अच्छी बात याद दिला दी । पिताजी ! आप जब मेरे लिये स्वीटर लेने लगेंगे तो उस समय आपके सम्मुख १८–२० या २५ रुपये आदि की कई स्वीटरें आयेंगी, तो तब आप मुझे मेरी भावना के अनुसार १८-२० की स्वीटर ही ले देना और २५ में से बचे हुए ५–७ रुपये का मोटा मजबूत कुर्ता किसी गरीब बच्चे को ले देना, तो तब मेरी सन्ध्या में-मेरी उपासना में उत्थान होगा । अथवा मेरी छोटी बहिन जो मुझे बहुत ही प्यारी लगती है, माताजी और आपको भी उसके प्रति बहुत लाड–प्यार है । यदि उसका शाल आपको ३५ वाला पसन्द आ जाय तो आप मेरे २५ रु० में से १० रु० उस दीदी के २५ रु० में मिलाकर उसको ३५ का सुन्दर गर्म शाल ले देना और मुझे मेरठ का १५ रु० का खेस खरीद देना । बस उसको ओढ़कर भले ही मैं थोड़ा कम सजूंगा, आपको भी सम्भवत: वह इतना अधिक न भाए, पर फिर यह निश्चित है कि मेरी आत्मा अधिक प्रसन्न होगी, मेरी साधना में-उपासना में मन भी अधिक लगेगा और मेरी साधना में निरन्तर उत्थान भी होगा एवं मैं तब साधना के पथ पर चलने का वास्तव में अधिकारी भी बन सकूंगा ।"

पिता यह सब सुनकर बड़ा ही गद्‌गद् हुआ, बड़ा ही प्रसन्न हुआ और बोला–"बेटा ! आज तेरी बातें सुन-सुन कर मेरी आत्मा बहुत प्रसन्न है और मैं उस प्रभु का हृदय से धन्यवाद करता हूँ जिसने मुझे तेरे जैसा ऐसा दिव्य पुत्र प्रदान किया है जिसको कि अपने तन से अधिक मन और आत्मा को दिव्य गुणों से अलंकृत करने का ध्यान है, जिसको कि अपने इस माता-पिता और गुरु की अपेक्षा अपने भीतर वाले सच्चे, स्थायी माता-पिता और गुरु के रूप में विद्यमान परमात्मा को प्रसन्न करने का अधिक ध्यान है, और उसकी साक्षी में-

उसके निर्देशन में किसी के हिस्से को ग्रहण करने की बात तो दूर रही उल्टा अपने हिस्से को भी त्यागपूर्वक भोगने की भावना है; जिसको कि अपने सामान्य बाह्य सुखों की अपेक्षा सन्ध्या की, और उसमें होने वाले उत्थान की अधिक चिन्ता है···।" यह सब कहते हुए उस पिता ने अपने उस पुत्र को हृदय से लगा लिया और श्रद्धा एवं प्यार के अश्रु-पूर्ण नेत्रों से उस प्रभु का धन्यवाद किया जिसने कि उसको ऐसा सुपुत्र प्रदान किया।

साधना का अधिकारी-उस अनन्त असीम अविनाशी ईश्वर की उपासना का अधिकारी सर्वप्रथम प्रभु कृपा से अपने प्यारे प्रभु को सर्वव्यापक मानता हुआ उसकी कृपा से अपने कर्मों के अनुसार उपलब्ध हुए सब पदार्थों का जब सन्तोष और त्यागपूर्वक उपभोग करता है तो वह अपने संतोष एवं त्याग पूर्वक दिव्य व्यवहारों से दूसरों को ऐसा तृप्त करता है कि दूसरे दंग रह जाते हैं। यद्यपि उसका उद्देश्य दूसरों को तृप्त करना नहीं होता। क्योंकि वह तो सहज स्वभाव से ही यह सब कुछ करता है। फिर भी दूसरे उससे बहुत तृप्त एवं प्रसन्न होते हैं। फिर प्रभु तो उस पर प्रसन्न होता ही है और उसकी साधना की राह भी खुलती ही है। वैसे भी जिसको अपने भाग पर संतोष है-अपने हिस्से पर सब्र है तो फिर भला उसका मन साधना में अन्यत्र कैसे जायेगा! फिर जब वह अपने ही कर्मों के अनुकूल उपलब्ध हुए धन-वैभव, सुख-सौभाग्यों, पुत्र-पौत्रों, कार-कोठी आदि-आदि का भी सन्तोष पूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक उपभोग करता है तो वह भला दूसरों के धनैश्वर्य, पुत्र-कलत्र, महल-माणियों को कैसे लोभ की दृष्टि से देख सकेगा-कैसे ललचाई हुई दृष्टि से देख सकेगा-कैसे आकांक्षा भरी नजर से देख सकेगा? और मनुष्य को वास्तव में चाहिए भी यही कि वह सारे संसार में व्यापक अनन्त-अविनाशी ईश्वर को ही सब

संसार का स्वामी समझे और उससे अपने कर्मों के अनुसार जो जाति-आयु और भोग मिले, उससे जैसा शरीर मिले, नाटा या लम्बा, गोरा वा काला, साँवला वा भूरा, स्वस्थ वा कमजोर, फिर उसमें भी उसे जितनी और जैसी आयु प्राप्त हो, जैसे वा जितने भी भोग के साधन मकान, वस्त्र-धन-अन्न दुग्ध-फल आदि प्राप्त हों, उसमें ही सन्तुष्ट रहे। और सन्तुष्ट ही नहीं वरन् उसका भी वह त्यागपूर्वक उपभोग करे। अर्थात् उसमें से भी वह दूसरों को खिलाकर खाए दूसरों को पहना कर पहने, दूसरों को सुख देकर सुख भोगे आदि–आदि। कभी भूलकर भी दूसरे के धन–वैभव, सुख-सौभाग्य, पुत्र–पौत्र, मान–सम्मान, सेवा-सत्कार आदि को ललचाई दृष्टि से न देखे, भूखी-प्यासी नजर से न निहारे। हाँ यदि उसको दूसरों का धन-वैभव जमीन–जायदाद, मान-सम्मान, सुख-सौभाग्य, सुन्दर स्वास्थ्य आदि अच्छा लगे और उसमें यह इच्छा जागृत हो कि—"मेरे पास भी यह सब कुछ होना चाहिए" तो ऐसी दशा में वह दूसरों से ईर्ष्या न करे–डाह न करे, वरन् यह जानकारी प्राप्त करे कि वह सब उन व्यक्तियों को कैसे उपलब्ध हो सका ---। तत्सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होने पर फिर वह विचार करे–"यदि मैं भी चाहता हूँ कि उस जैसा स्वास्थ्य मेरा भी हो तो जैसे वह नित्य व्यायाम करता है, नियम में बंधकर उत्तम और स्वास्थ्यप्रद भोजन करता है, अपेय एवं अभक्ष्य वस्तुओं के सेवन से बचता है तो ऐसे मुझे भी नित्य भ्रमण-व्यायाम से, सुनियमित उत्तम स्वास्थ्यप्रद भोजन से, अपने स्वास्थ्य को सुन्दर बनाना चाहिए। उस जैसे धन-वैभव की इच्छा होने पर उसके समान डटकर पुरुषार्थ करूँ, बुद्धिपूर्वक व्यापार करूँ, ग्राहकों से ऐसा व्यवहार करूँ कि उनका मैं विश्वास पात्र बन सकूँ, ताकि सुदीर्घ काल तक वे मेरे ग्राहक बने रहें। इस प्रकार आचरण करने से आने वाले समय में

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरे पास भी वह सब कुछ हो जायेगा । ऐसे ही मान-सम्मान यश-कीर्ति भी उस व्यक्ति की कुछ विशेष गुण-कर्म-स्वभावों के कारण से हैं, अतः मैं भी उस व्यक्ति के समान अपने में उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों को उत्पन्न करूँ, अपने आहार आचार एवं व्यवहार को उत्तम बनाऊँ ताकि मैं भी यशस्वी बन सकूँ। परन्तु अन्त में जो भी, जैसा भी अपने कर्मों के आधार पर प्रभु से उपलब्ध हो मैं उसी पर सन्तोष करूँ और सन्तोष ही नहीं प्रत्युत उसका भी त्यागपूर्वक उपभोग करूँ। फिर मैं किसी से ईर्ष्या न करूँ। तो ऐसा करते रहने से मैं उस अनन्त-अविनाशी ईश्वर की ओर अग्रसर होने का अधिकारी बन सकता हूँ ।

चौथी बात यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह इस मानव चोले में आकर कम से कम सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, वह भी कर्मठ होकर। वह ऐसा प्रयास करे कि उसके जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ न जाये। इस कर्मठता का प्रभाव यह होगा कि कर्म उससे लिप्त न होगा अर्थात् कर्मफलासक्ति उसमें नहीं रहेगी ।

एक बार एक विद्वान् से किसी वृद्ध सज्जन ने कहा कि—"मुझे आपसे कुछ बात करनी है।" उस विद्वान् ने कहा कि—"अभी कर लो।" इस पर वह सज्जन बोला, "ऐसा नहीं, आराम से विस्तार से बात करनी है। इसलिए जब आपको खाली समय मिले तब आप आ जायें, फिर मैं बात करूँगा।" इस पर वे विद्वान् बोले—"यदि आप इस आशा पर रहें कि मुझे फालतू समय मिलेगा वा मेरे पास कोई खाली समय होगा तो तब आप बात करेंगे, तो यह मैं बता दूँ कि मेरे पास २४ घण्टों में कोई खाली समय है ही नहीं। क्योंकि भले ही मैं पूर्णतया पालन कर पाऊँ वा नहीं, परन्तु मेरा २४ घण्टों

का समय मेरी दैनन्दिनी-डायरी के अनुसार बंधा हुआ है। इसलिये उसमें कोई भी समय खाली है ही नहीं।" इस पर वे सज्जन बोले – कि "तब आप इतने ये सामाजिक कार्य कैसे कर पाते हैं ?" उस विद्वान् ने उत्तर दिया—"वह इस प्रकार, कि मैं दूसरे का कार्य पूछ लेता हूँ। यदि उसका कार्य मुझे अपने निर्धारित कार्य की अपेक्षा कुछ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है तो तब मैं अपने कार्य को गौण कर उसके कार्य को कर लेता हूँ। ऐसा ही आपकी बात के विषय में भी होगा ·····।" इस पर वह सज्जन बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला कि—"आपका यह चिन्तन मेरे लिए एक बहुत बड़ी प्रेरणा है।" ऐसे ही एक व्यक्ति से किसी ने पूछा—"आप कैसे लेट रहे हैं ?" यह सुनकर अगला व्यक्ति बोला—"इसलिए कि जब कोई कार्य नहीं दीखा तो मैं लेट गया ··।" इस पर वह विद्वान् बोला कि—"जो कर्मठ व्यक्ति है, जो कर्मशील व्यक्ति है, वह तो अपने लेटने को, अपने विश्राम करने को भी एक कार्य समझता है। इसलिए वह कहता है कि "पहले मैं नहाने का कार्य करता हूँ। फिर मैं सन्ध्योपासना का कार्य करता हूँ। फिर मैं हल्के जलपान का कार्य करता हूँ। तदन्तर मैं अर्थोपार्जन का कार्य करता हूँ। तदुपरान्त मैं भोजन खाने का कार्य करता हूँ। उसके उपरान्त मैं लेटने का कार्य करता हूँ, अर्थात् विश्राम करता हूँ।" इस प्रकार 'विश्राम' भी उसका एक कार्य है।

इस प्रकार सतत् कर्मशील रहने का, निरन्तर कर्म करते रहने का परिणाम यह होता है कि मनुष्य उससे सदा पवित्र ब ा रहता है। क्योंकि खाली मस्तिष्क बुराईयों का घर बनता है। अतः मनुष्य को उचित है कि वह सदा अपने आप को व्यस्त रखे। वेद का आदेश और उपदेश यही है कि मनुष्य अपने आप को इतना अधिक कर्मशील बना कर रखे कि उसको कर्मफल की प्रतीक्षा में भी समय खोना

व्यर्थ लगे। इस तरह कर्मठ व्यक्ति की यह विशेषता रहती है कि वह कर्मफल की आसक्ति से बच जाता है। वैसे तो जो भी कर्म मनुष्य ने किया है–"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" वह चाहे शुभ वा अशुभ हो उसके फल को अवश्यमेव भोगना पड़ता है। इसलिये जो कुछ भी मनुष्य शुभ-अशुभ करेगा उसके फल से वह बच नहीं सकता। अत: वह स्वयं उसके पीछे आयेगा, तो फिर फल के लिए काहे को परेशान होना है। एक शिक्षण संस्था में दो छात्र थे। एक ने एम० ए० प्रथम वर्ष की परीक्षा दी और फिर परिणाम के लिये आफिस के चक्कर काटने लगा। वह कार्यालय में जाकर पूछता है कि—"कब परिणाम घोषित होगा?" उत्तर मिलता है—"अमुक तिथि को।" फिर वह उस दिन की प्रतीक्षा करता रहता है। उस दिन के आने पर वह फिर कार्यालय पहुँच जाता है और परिणाम न निकलने पर रजिस्ट्रार और प्रधान क्लर्क को कोसता रहता है। फिर पूछने पर नई तिथि मिलती है। उसमें भी परिणाम न निकलने पर खिझता हुआ सबको वह कोसता रहता है इत्यादि। इस प्रकार वह अनेकों चक्कर काटता है तब कहीं जाकर परिणाम निकलता है–। परन्तु इसी का ही दूसरा साथी जो परीक्षा से निवृत्त होते ही अपना पता देकर किसी दूसरी शिक्षा संस्था में–डेढ़ मास के लिये पढ़ने चला जाता है। वहाँ से निवृत्त होने पर शेष छुट्टियाँ वह अपने घर जाकर अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धवों में व्यतीत करता है। कुछ सामाजिक सुधार के कार्यों को भी करता है। वह परीक्षा के परिणाम की चिन्ता किये बिना अपने अगले ही अगले कार्यों को करता चला जाता है। परिणाम निकलने पर उसका परिणाम उस संस्था में भेज दिया जाता है जहाँ कि वह पढ़ा रहा था। उसके वहाँ से विदा होने पर परिणाम उसके घर जाता है। परन्तु तब तक वह घर से वापिस

विद्यालय पहुँच जाता है। फिर घूमता-घामता परिणाम भी उसके पीछे-पीछे वहीं उस शिक्षण संस्था में आ जाता है ।

इस प्रकार जिस कर्म में भी वह कर्मशील छात्र लगता है, जी जान से लगता है। परिणाम प्रभु पर छोड़ कर वह आगे के कर्मों के लिये सन्नद्ध हो जाता है, और उनमें भी वह बड़ी तत्परता से संलग्न हो जाता है, तथा सदा हँसता हुआ आगे ही आगे बढ़ता जाता है; जबकि उधर दूसरा उसी का साथी एक ही परीक्षा में शीघ्र परिणाम न निकलने पर अपना सन्तुलन खो बैठता है। इन दोनों के जीवनों में यह महान् अन्तर इसलिये उत्पन्न हो जाता है कि एक निरन्तर कर्म करता है और कर्म करने में इतना तल्लीन रहता है कि कर्म के फलों के सोचने के लिये वह अवसर ही नहीं निकाल पाता। अर्थात् उसकी कर्मों में लगे रहने की ही अत्यन्त रुचि है, कर्मफलों में वह इतनी आसक्ति नहीं रखता है, जबकि दूसरा कर्म तो अभी पूर्ण कर ही नहीं पाता और अपने कर्म के फलों की प्रतीक्षा में दिन गिनने लगता है। उसकी इतनी अधिक फलासक्ति का कारण यही था कि वह पूर्णतया कर्मठ नहीं था। इस प्रकार कर्म का फल अनुकूल मिल जाता तो वह फूल कर कुप्पा हो जाता और जरा सा विपरीत परिणाम मिलने पर अपने कर्मों को रोता, अपने भाग्य को कोसता, परीक्षकों को दोष देता, परमेश्वर को उपालम्भ देता इत्यादि। इसलिये वेद का यह आदेश है कि मनुष्य की कर्मठता ऐसी होनी चाहिये कि वह निरन्तर कर्मशील रहे। अर्थात् एक कर्म करके झट दूसरे कर्म में लग जाए। वह इतना कर्मठ रहे कि फल के लिये चक्कर काटने का उसके पास अवसर ही न रहे। इस प्रकार वह तो एक कर्म करके दूसरे कर्म के लिये आगे बढ़ता रहे और उसके पिछले कर्म का फल उसके पीछे फिरता रहे। ऐसा नहीं कि वह कर्म के फल के लिये घूमता रहे और फल उससे आगे ही आगे

सरकता रहे। ज्ञानी और कर्मठ व्यक्ति ईश्वर को बहुत प्रिय है। इसलिये उसने जहाँ हमें ज्ञानेद्रियाँ प्रदान कीं वहाँ कर्मेन्द्रियों से भी हमें युक्त किया है।

उस अनन्त-असीम-अविनाशी सर्वव्यापक कण-कण में बसने वाले ईश्वर के पथ पर अग्रसर होने के लिये–उसका अधिकारी बनने के लिये जहाँ साधक को उपर्युक्त चार गुणों वाला होना आवश्यक है, अर्थात् १–ईश्वर को व्यापक समझना, २–अपने कर्मों के अनुसार उससे उपलब्ध हुए वैभव का सन्तोषपूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक उपभोग करना, ३–किसी के धन-वैभव आदि को आकांक्षा भरी दृष्टि से न देखना, ४–एवं सतत् कर्मशील बने रहना आवश्यक है, वहाँ ५–यह भी आवश्यक है कि साधक उसका अधिकारी बनने के लिये अपनी आत्मा में विराजमान परमात्मा के आदेशों की भी कभी अवहेलना न करे। क्योंकि जिसको उस अनन्त-अविनाशी सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के प्रति अनुराग नहीं, उसके आदेश-उपदेश एवं निर्देशों के प्रति श्रद्धा ही नहीं वह उसकी प्राप्ति के पथ पर कैसे आगे बढ़ सकेगा, साधना की राह पर कैसे आगे बढ़ सकेगा, साधना की राह पर कैसे पग धर सकेगा ? वह तो तब उसके विपरीत आचरण करता हुआ अपनी इस मानव योनि को भी खो बैठेगा, और उन योनियों में जायेगा जहाँ कि ज्ञान का भानु उदय ही नहीं होता। इसलिये उस प्रभु की ओर अग्रसर होने वाले को सदा उस परमेश्वर के आदेश-उपदेश एवं निर्देशों पर निरन्तर ध्यान देना चाहिए तद्नुसार आचरण करते रहना चाहिये।

इस प्रकार उस अनन्त-असीम-अविनाशी परमेश्वर की राह पर चलने का वास्तविक अधिकारी बनना चाहने वालों को उपर्युक्त इन पाँचों कर्त्तव्यों का निष्ठा पूर्वक पालन करना चाहिये। संक्षेपतः

साधक को चाहिए कि–(१) ईश्वर को व्यापक समझे। (२) जो कुछ और जैसा कुछ भी अपने कर्मानुसार प्रभु से उसे उपलब्ध होवे, उसी में ही वह सन्तोष करे। और सन्तोष ही नहीं वरन् उसका भी वह त्यागपूर्वक उपभोग करे। (३) जीवन में कभी भी किसी के धन-वैभव, सुख-सौभाग्य आदि को वह ललचाई दृष्टि से न देखे। हाँ जो अभीष्ट हो उसके लिये जीवन में ज्ञानपूर्वक वह पुरुषार्थ करे। फिर जो कुछ, और जैसा कुछ भी अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हो, उसमें ही वह सन्तोष करे। (४) जीवन में वह इतना कर्मशील बनकर रहे कि कर्मफल के विचार वा प्रतीक्षा के लिये भी उसके पास समय शेष न रहे। हाँ पहले परिणाम पर अच्छी तरह विचार करे तत्पश्चात् कर्म करे। पर बाद में फिर वह चिन्ता बिल्कुल न करे। (५) वह अपनी अन्तरात्मा के अनुकूल आचरण करे, विपरीत आचरण कभी न करे।

इस प्रकार उपर्युक्त ५ कर्त्तव्यों का श्रद्धा पूर्वक पालन करते रहने से मनुष्य साधना के पथ पर अग्रसर होने का अधिकारी बन जाता है।

अनन्त अविनाशी ईश्वर का स्वरूप

उस अनन्त-अविनाशी परमेश्वर का स्वरूप क्या है ? साधक को इसे पहले भली-भाँति समझ लेना चाहिये, इसे अपने हृदय में बिठा लेना चाहिये ताकि उस को कहीं भ्रम न रहे, क्योंकि यदि उस परमेश्वर के स्वरूप को बिना मस्तिष्क से समझे हुए साधक चाहे जिस को अपना अराध्यदेव-इष्टदेव मानकर पूजता रहेगा तो वह जन्म-जन्मान्तरों तक अन्धकार में ही भटकता रहेगा । लेखक को इस विषय में एक ऐसा अनुभव है कि जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

आज से लगभग १२-१३ वर्ष पूर्व माननीय पं० नरेन्द्र जी ने हरिद्वार से एक विद्वान् को प्रचारार्थ हैदराबाद बुलाया । उस विद्वान् को किसी प्रकार की असुविधा न हो इसलिये उन्हों ने आर्य प्रतिनिधि सभा के एक विशेष अधिकारी को उन्हें लाने के लिये हैदराबाद से पहले के स्टेशन सिकन्दराबाद भेजा । उस सज्जन ने उस विद्वान् को लेने जाने से पूर्व माननीय पं० नरेन्द्र जी से पूछा कि—"मैंने तो उन्हें कभी देखा नहीं है, अतः मैं उन्हें कैसे पहचानूँगा ? इसलिये भेजने से पूर्व आप मुझे जरा अच्छी प्रकार से समझा देवें कि वे कैसे हैं, ताकि मैं उन्हें पहचान सकूँ ।" इस पर पं० नरेन्द्र जी ने उन्हें उस विद्वान् का हुलिया सब प्रकार से समझा दिया । उस महानुभाव ने भी उस आने वाले विद्वान् के स्वरूप को भली-भाँति समझ कर हृदय में बिठा लिया और सिकन्दराबाद पहुँच गया । जब मद्रास

मेल गाड़ी सिकन्दराबाद आकर रुकी तो वह इञ्जन की ओर से देखता चला गया। वापसी पर जब फिर वह देखता हुआ चला आ रहा था तो वह विद्वान् गाड़ी के सिकन्दराबाद पहुँचने पर अपनी ऊपर वाली (BERTH) बर्थ से उतर कर अभी नीचे खड़ा ही हुआ था, कि वह सज्जन झट अन्दर की ओर बढ़ कर उस विद्वान् से बोला कि—"क्या मैंने आपको ठीक पहचाना ?" इस पर वह विद्वान् भी हँसता हुआ बोला कि—"हाँ महाशय ! आपने मुझे बिल्कुल ठीक पहचाना।" इस पर दोनों के चेहरे खिल गये और फिर उसी प्रसन्न मुदा में बड़ी श्रद्धा से उस सज्जन ने उस विद्वान् का अभिवादन किया इत्यादि।" कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी को भली-भाँति यह ज्ञान हो जाय, यह भान हो जाय, कि जिसको वह पाना चाहता है, उसका स्वरूप ऐसा है, तो फिर वह उसके विषय में कभी धोखा नहीं खायेगा। एक ही बार में जब वह अभीष्ट व्यक्ति उसके सम्मुख आयेगा तो सहज में ही वह उसको पहचान लेगा। पर अगर किसी को अपने अभीष्ट के स्वरूप का ही सुस्पष्ट ज्ञान नहीं होगा, भली-भाँति भान नहीं होगा तो वह तो फिर पग-पग पर धोखा ही खाता रहेगा। ठीक यही बात उस अनन्त-असीम-अविनाशी परमेश्वर की भी है। जब किसी को उसके सही स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तो वह सदा सर्वत्र धोखा ही खाता रहता है। जैसे कि एक बार मैं अपने अन्य दो साथियों के साथ पदाति (पैदल) प्रचार करने के लिये किसी ग्राम की ओर जा रहा था तो वे वर्षा ऋतु के दिन थे। नन्हीं-नन्हीं बून्दें पड़ रही थीं। अचानक ग्राम तक पहुँचने के लिये हमें एक ऐसे तालाब को पार करना पड़ा जहाँ घुटनों-घुटनों तक पानी था, अब जब हम तीनों उस तालाब को पार कर रहे थे तो उधर से एक दूसरा सज्जन भी तालाब को पार करता हुआ इध-

की ओर आ रहा था। मध्य में हमारा परस्पर मिलना हो गया। हम तीनों में से एक व्यक्ति संन्यासी वेश में था। उसका स्वास्थ्य आदि भी बहुत अच्छा था। उधर से आने वाला व्यक्ति कुछ बहुत अधिक भोला और भावुक था। जैसे ही उसने हमको निहारा, वह तालाब में ही हमारी ओर कुछ अधिक समीप आ गया। और अब हमारे में से जो भगवे वस्त्रों में था, उसके वह अत्यधिक समीप चला गया और बड़े भक्ति भरे भावों में भरकर उसको उसने प्रणाम किया, और फिर वह बोला विभोर होकर–"ना जाने किस रूप में नारायण मिल जाय–महाराज ! न जाने मेरे किन-किन जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यों का उदय हो गया है जो आपने मुझे इस रूप में दर्शन दिये। भगवन् ! मेरे घर चलो और मेरे घर को पवित्र करो। हे प्रभो ! मैं तेरी कैसे अराधना करूँ, कैसे पूजा करूँ, मेरा तो आज जीवन सफल हो गया तेरे दर्शन पाकर, चलो जल्दी मेरे घर–"। इस पर वह बन्धु भी अनुनय विनय करके आगे जाने को कहने लगा, तो इस पर वह झट बोला "भगवन् ! न जाने मेरे कौन से ऐसे पाप कर्म हैं, कौन से ऐसे कुकर्म हैं, जो ऐसे साक्षात् दर्शन देकर भी हमारी झोंपड़ी को आप पवित्र नहीं करते। भगवन् ! ऐसा मत करो" आदि-आदि कहता हुआ वह गिड़गड़ाने लगा। हमने उसे बहुत समझाया कि– "यह भगवान् नहीं है हमारा साथी है, हमारे साथ पढ़ता है आदि।" पर वह किसी रूप में माना ही नहीं। अन्त में बड़ी कठिनाई से पन्द्रह-बीस मिनट में उसको यह समझाते हुए कि यह भगवान् नहीं; नारायण नहीं, हमारी तरह ही एक मनुष्य है, आदि-आदि कहकर उससे पिण्ड छुड़ाया और आगे बढ़े। पर हमारे ऐसा करने पर उसका चेहरा कुम्हला सा गया और वह बार-बार मुड़-मुड़ कर बड़ी

भावुकता से पीछे देखता रहा……। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उसे उस परमपिता परमेश्वर के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होता तो वह इस प्रकार भ्रम में कभी नहीं पड़ता। इसलिए इस मार्ग के पथिक को–साधना के अधिकारी को पहले बौद्धिक रूप से अच्छी प्रकार से उस परब्रह्म के स्वरूप को समझ लेना चाहिए ताकि वह कभी धोखा नहीं खाये। यदि वह साधक–वह भक्त अच्छी प्रकार से उसके स्वरूप को समझ लेगा तो जिस दिन उसका उसको साक्षात्कार होगा तो हैदराबाद के उस सज्जन ने जैसे उस विद्वान् को कहा था, वैसे ही वह भी प्रसन्नता में विभोर हुआ-हुआ कह उठेगा उस प्रभु को कि "भगवन्! क्या मैंने आपको ठीक पहचाना?" तो भगवान् भी इसको ऐसे ही उत्तर देगा कि–"हाँ भक्त! तूने मुझे बिल्कुल ठीक पहचाना।" अन्यथा यह धोखा ही खाता रहेगा। इसलिये [1]यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में आगे चलकर भली-भाँति यह समझाया गया है कि उस ईश्वर का स्वरूप क्या है?

वेदानुसार वह एक ऐसा तत्त्व है जो गति नहीं करता, पर फिर भी वह मन से वेगवान् है। अब यहाँ उस ईश्वर को मन से वेगवान् भी इसलिए कहा है कि मन तो वृत्ति वा विचार परम्परा से कहीं चलकर किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थान को समझता है वा जानता है, जबकि ईश्वर सर्वव्यापक होने से। क्योंकि वह वहाँ पूर्व ही पहुँचा हुआ होता है, वहाँ पहले से ही विराजमान हुआ होता है, और उस वस्तु, व्यक्ति वा स्थान को जान रहा होता है। इसलिए उसे मन से भी अधिक वेगवान् कहा गया है। क्योंकि वह मन के कहीं वृत्ति

---

१ यजु. ४०.४ से ४०.८ तक।

रूप से पहुँचने से भी पूर्व वहाँ पहुँचा हुआ रहता है। इसलिये यहाँ उसके सम्बन्ध में ही आरम्भ में कहा गया है कि वह गतिमान् नहीं है। क्योंकि गति तो वह करेगा जो एक देशी होगा। सर्वदेशी सर्वव्यापक परमेश्वर को गति करने की तो आवश्यकता ही नहीं है।

यह ऐसा अद्वितीय तत्त्व है कि उसको शरीर में विद्यमान् रहने वाले देव अर्थात् देह में विद्यमान् रहने वाली इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं। क्योंकि इन्द्रियाँ तो केवल शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के रूप में विद्यमान पदार्थों को ही जान सकती हैं। अब वह ईश्वर तो ऐसा तत्त्व है जो शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि से ऊपर है। इसलिए उस परमेश्वर को ये श्रोत्र सुन नहीं सकते, ये आँखें देख नहीं सकतीं, यह जिह्वा चख नहीं सकती, यह नासिका सूँघ नहीं सकती, यह त्वचा स्पर्श नहीं कर सकती, यह मन उसका मनन नहीं कर सकता, बुद्धि उसको समझ नहीं सकती। अर्थात् मन-बुद्धि की भी वहाँ पहुँच नहीं है ?

[२]केनोपनिषद् के अनुसार कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म वह है कि जिसको यह वाणी नहीं प्रकट कर सकती वरन् यह वाणी उससे प्रकट होती है। ब्रह्म वह है जिसका मन से मनन नहीं किया जा सकता वरन् मन जिससे मनन करता है, जिसको चक्षु नही देख सकती वरन् चक्षु जिसके द्वारा देखती है, श्रोत्र जिसको नहीं सुन सकता वरन् श्रोत्र जिसके द्वारा सुनता है, वास्तव में वही ब्रह्म है–ईश्वर है।

---

१ न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः ॥ केनोप० १.३ ॥

२ केन १.४–८।

उपनिषद् के इन सुन्दर भावों को यदि हम और स्पष्ट रूप से समझना चाहें तो यों समझ सकते हैं-जिह्वा जिसका उच्चारण करती है, जिह्वा जिसका जप करती है, वह परमेश्वर नहीं है, वरन् जिह्वा में जिसने उच्चारण करने की-जप करने की सामर्थ्य भरी है, वह परमेश्वर है; आँख जिसको देखती है, वह ब्रह्म नहीं है वरन् आँख में जिसने देखने की सामर्थ्य भरी है, वह ब्रह्म है; रसना जिसका रस-स्वाद ले रही है, वह ब्रह्म नहीं है, वरन् रसना में जिसने रस-स्वाद लेने की सामर्थ्य भरी है, वह ब्रह्म है; श्रोत्र जिसे श्रवण करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, वरन् श्रोत्र में श्रवण करने की जिसने सामर्थ्य भरी है, वह ब्रह्म-परमेश्वर है; त्वचा जिसका स्पर्श करती है, वह ब्रह्म नहीं है, वरन् वह ब्रह्म है जिसने कि त्वचा में स्पर्श करने की सामर्थ्य भरी है; घ्राण जिसका जिघ्रण करता है, वह ब्रह्म नहीं है, वरन् वह ब्रह्म है जिसने घ्राण में जिघ्रण करने की-नासिका में सूँघने की सामर्थ्य भरी है। ऐसे ही मन जिसका मनन करता है, वह परमेश्वर नहीं है वरन् मन में जिसने मनन करने की शक्ति भरी है, वह परमेश्वर है; बुद्धि जिसको सोचती-समझती है, वह ब्रह्म नहीं है वरन् वह ब्रह्म है जिसने बुद्धि में सोचने-समझने की सामर्थ्य भरी है। इस प्रकार वह परमेश्वर सब इन्द्रियों से परे है, सब इन्द्रियों से ऊपर है, वे चाहे बाह्येन्द्रियाँ हों या अन्तःकरण चतुष्टय-मन-बुद्धि आदि हों। वह तो केवल आत्मा से ही अनुभव करने की वस्तु है। [1]अतः केवल आत्मा ही उसका साक्षात् कर सकती है, केवल आत्मा ही उसका अनुभव कर सकती है। अतः आत्मा से ही उसे जानने का प्रयास करना चाहिए।

वह ईश्वर तो ऐसा व्यापक है कि कोई स्थान उससे रिक्त है

---

१ आत्मनात्मानमभिसंविवेश। यजुर्वेद ॥
आत्मन्यात्मा गृह्यते ॥ श्वेताश्वतरोप०

ही नहीं। वह स्थिर रहता हुआ भी अन्य दौड़ते हुओं को लाँघ जात है, पीछे छोड़ जाता है, सर्वव्यापक होने से। उसी अनन्त-असीम अविनाशी सर्वव्यापक परमेश्वर में वर्तमान हुआ-हुआ यह जीव-प प्राणी नानाविध कर्मों को किया करता है। उससे बाहर होकर यह जीव कुछ भी तो नहीं कर सकता। सच्ची बात तो यह है कि यह जीव उस अनन्त-असीम परमेश्वर से कहीं बाहर जा ही नह सकता, क्योंकि वह सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी जो ठहरा। वह परमेश्व सर्व संसार को सब प्रकार से गतिमान किये हुए है, सब अणु परमाणुओं को हरकत में लाये हुए है, परन्तु आश्चर्य यह है कि व स्वयं गति में नहीं आता। स्वयं तो उसकी गति ज्ञानमयी ही है। व तो सब संसार को इच्छामात्र से ही गतिमान करता रहता है।

वह परमेश्वर दूर भी है और पास भी है। परन्तु वह दूर उ से है जो अज्ञानी हैं, अविद्वान् हैं; अविवेकी हैं, अविद्यान्धकार ग्रस्त हैं। और पास वह उनके है जो ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं, विवेकी हैं पवित्र अन्तःकरण वाले हैं। वह प्रभु तो ऐसा है जो कि इस स जगत् के भीतर है और बाहर भी है। इस जगत् में विद्यमान् प्रत्ये वस्तु, व्यक्ति और स्थान के भीतर भी है और बाहर भी है। इ प्रकार संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं, कोई भी ऐसा व्यक्ति नह कोई भी ऐसा स्थान नहीं जिसके कि वह भीतर विद्यमान् न ह एवं बाहर वर्तमान न हो।

इस प्रकार सबके भीतर-बाहर विद्यमान् ऐसे उस अनन्त असीम-अविनाशी प्यारे परमेश्वर में जो सब भूतों को, सब प्राणि और सब पदार्थों को देखता है-अनुभव करता है, तथा सब भूतों मे सब-प्राणियों और सब पदार्थों में जो उस आत्मा अर्थात् परमात्मा व

खता है, अनुभव करता है, तो ऐसा ज्ञानी विद्वान् फिर कहीं संशय
ो नहीं प्राप्त होता, कहीं उसे सन्देह नहीं होता, और न ही किसी
फिर वह घृणा ही करता है। इसी का नाम ही विश्व प्रेम है।
श्वर के स्वरूप को बौद्धिक रूप से भली-भाँति समझने का यह
रिणाम होता है कि जब वह प्यारा और सब जग से अनुपम
रमेश्वर प्रत्येक प्राणी के भीतर भासता है, तब तो प्रत्येक प्राणी का
रीर ही उस साधक को उस ईश्वर का मन्दिर लगने लगता है और
सलिए फिर उस ज्ञानी का प्रत्येक प्राणी से प्रेम भी हो जाता है। और
सी प्रेम के कारण ही वह सबके प्रति घृणा रहित भी हो जाता है।

जिस ज्ञानी-ध्यानी विद्वान् के ज्ञान में-अनुभव में सर्वभूतों में
र्थात् प्राणीमात्र और पदार्थमात्र में विराजमान आत्मा-परमात्मा
ी अनुभूति होने लगती है तो ऐसे उस अद्वितीय परमात्मा में सर्व-
ाभावेन स्थित होकर सर्वत्र उसका अनुभव करने वाले साधक में,
ोगी में फिर भला मोह और शोक कैसे रह सकता है! वा उसमें
ाग और द्वेष आदि भी भला कैसे रह सकता है! क्योंकि यदि वह
केसी एक देशीय परिच्छिन्न वस्तु में स्थित होता तो उससे उसको
ोह होता और फिर परिस्थितिवशात् उससे पृथक् होने पर शोक
ी होता, या उसमें स्थिर होने पर राग भी हो जाता। तो फिर
उसमें बाधक तत्त्व के प्रति द्वेष भी हो जाता। परन्तु अब तो वह
जेस अभीष्ट परमेश्वर में स्थित है, वह तो ऐसा तत्त्व है जो सर्वत्र
स्थत है, सबमें स्थित है। ऐसे उस प्रभु में स्थित रहने पर, सर्वत्र
उसके प्राप्त होने पर उससे वियुक्त होने की तो उसे कोई सम्भावना
ही नहीं, अतः उसे शोक भी नहीं होगा...।

वह अनन्त-अविनाशी परमेश्वर एक देशी नहीं है, सर्वदेशी
है, अर्थात् वह सर्वत्र-सब जगह गया हुआ है, सर्वत्र परिपूर्ण हो

रहा है, सर्वत्र व्यापक हो रहा है; सब में रम रहा है। यह ब्रह्म क प्रथम और मुख्य गुण है जो साधना के पथ के पथिक–ब्रह्म के सच्चे जिज्ञासु को अपने हृदय में बिठा लेना चाहिये। क्योंकि बिना इर को समझे और बिना इस पर श्रद्धा और विश्वास किये हुए साधक साधना के स्वच्छ और समुन्नत पथ की ओर अग्रसर ही नहीं ह सकता।

उस अनन्त–अविनाशी ईश्वर का दूसरा गुण यह है कि व एक है, अद्वितीय है, अनुपम है, दिव्य है। उस जैसा दूसरा को है ही नहीं। इसलिए साधक को जो कुछ उसके द्वार पर उपलब्ध हो सकता है वह कहीं अन्यत्र हो ही नहीं सकता है, यह साधक क भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

वह अनन्त – अविनाशी परमेश्वर "शुक्रम्" वीर्यवान् है शक्तिशाली है. सर्वशक्तिमान् है। इतना वह समर्थ है, शक्तिशाल है कि अपने किसी भी बड़े से बड़े कार्य में उसको किसी दूसरे व सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। आश्चर्य तो यह है कि उसक हमारे समान कोई स्थूल, सूक्ष्म शरीर आदि भी नहीं है वा चक्षु श्रोत्र-हस्त-पाद आदि इन्द्रियाँ भी नहीं हैं, फिर भी वह संसार व इतनी सुन्दर और दिव्य रचना करता है कि हम सब आँख-कान हाथ–पैर आदि इन्द्रियों से युक्त मनुष्य भी उसे देख सुनकर स्तब्ध र जाते हैं, दंग रह जाते हैं, दाँतों तले अंगुली दबा जाते हैं—।

अब जब कि वह शरीर रहित है, शरीर वाला ही नहीं है तो फिर भला व्रण-घाव-चोट आदि का तो प्रश्न ही क्या उठ सकत है। फिर शरीर के अभाव में नस-नाड़ी के बन्धन की भी कोई बा ही नहीं बन सकती। अत: वह स्वयं अशरीर होकर भी सबके शरी

में रम रहा है, और फिर ऐसा रम रहा है कि उससे रहित कोई रह ही नहीं सकता ।

वह अनन्त-अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर सब प्रकार से शुद्ध है, पवित्र है, अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष आदि क्लेशों से सर्वथा रहित है। पाप कभी उसको बीन्ध नहीं सकता। इसलिये वह सर्वदा, सर्वथा पाप शून्य रहता है, निष्पाप और निष्कलङ्क रहता है । ज्यों-ज्यों उपासक उसके सम्पर्क में आता जाता है, वह भी त्यों-त्यों शुद्ध और पवित्र होता जाता है, निष्पाप और निष्कलङ्क होता जाता है ।

वह अनन्त-अविनाशी परमेश्वर कवि है, ज्ञानी है, क्रान्तदर्शी है, सर्वज्ञ है, सबको सदा कल्याणमय पथ पर अग्रसर होते रहने के लिए बाहर-भीतर से सत्प्रेरणायें देता रहता है। इतना ही नहीं, वह तो इतना अद्भुत है कि 'मनीषी' भी है अर्थात् सबके मन में होने वाली वृत्तियों तक को भी जानने वाला है। अर्थात् ऐसी कोई वृत्ति नहीं, जो हमारे भीतर तो उत्पन्न होती हो और उसका प्रभु को ज्ञान न होता हो। इसलिये हम अन्यों से तो अपनी सब वृत्तियों को गुप्त रखने में भले ही समर्थ हो जायें पर उस मनीषी परमेश्वर से हम अपनी कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्ति को भी गुप्त नहीं रख सकते ।

वह "परिभूः" है, सब ओर विराजमान है। कोई भी दिशा-उपदिशा उससे खाली नहीं है। वह स्वयं तो सबका कारण है, निमित्त कारण है, पर उसका कोई कारण नहीं है। क्योंकि वह तो "स्वयम्भू" है, अनादि है, स्वयं अपनी सत्ता से वर्तमान है, अपने आप ही वह है। इसलिये उसकी न तो संयोग से कभी उत्पत्ति ही

होती है और न ही वियोग से उसका कभी नाश ही होता है। वह तो सब प्रकार से जन्म-मरण, वृद्धि-क्षय आदि से सर्वदा रहित है ।

ऐसा अनन्त-अविनाशी, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी न्याय-कारी परमेश्वर शाश्वत काल से चली आ रही प्रजाओं को जैसे-जैसे उन सबके कर्म होते हैं, वैसे-वैसे ही उनके फल उन्हें 'जाति-आयु-भोग' के रूप में प्रदान करता रहता है। उसी की अद्वितीय न्याय-व्यवस्था से ही यह सारा संसार चल रहा है ।

मनुष्य यदि वेद के उपर्युक्त प्रसङ्ग के अनुसार बौद्धिक रूप से परमेश्वर के सम्बन्ध में भली-भाँति यह जान जाय कि वह ऐसा है तो फिर वह कभी भी, कहीं भी इस विषय में धोखा खा नहीं सकता, कभी भ्रम में पड़ ही नहीं सकता। क्योंकि जब उसे वेद-उपनिषद् आदि के आधार पर यह अच्छी प्रकार पता चल जाता है, भली-भाँति बोध हो जाता है कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" उस अनन्त-अविनाशी परम पुरुष परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है, तो फिर वह इन प्रतिमाओं को परमेश्वर की प्रतिमायें कैसे समझ सकता है? फिर तो इस विषय में सहज में ही वह इस विचार को हृदयङ्गम कर लेता है कि ये जितनी भी प्रतिमायें हैं, ये जितनी भी मूर्तियाँ हैं, ये सब किन्हीं देहधारी मनुष्यों की ही हैं, किन्हीं देहधारी महापुरुषों की ही हैं। क्योंकि उसे यह ज्ञान है कि प्रतिमा तो उसकी ही हो सकती है जिसका कोई आकार हो, जिसकी कि कोई काया हो। अब जबकि वेद उसे 'अकायम्' ही कहता है तो फिर भला उसकी प्रतिमा सम्भव ही कैसे हो सकती है? यजुर्वेद में यह भी कहा गया है कि वह परमेश्वर तो ऐसा है कि "नैनद् देवा आप्नुवन्" उसको ये देव–ये इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकतीं। इसलिये न तो यह आँख

उसको देख सकती है, न यह कान उसे सुन सकता है, न यह नासिका उसको सूँघ सकती है, न यह जिह्वा उसको चख सकती है, न यह त्वचा उसका स्पर्श कर सकती है, न यह मन उसका मनन कर सकता है, और न ही यह बुद्धि उसको जान सकती है। क्योंकि वह इन सब इन्द्रियों का विषय है ही नहीं। वह तो केवल इस आत्मा के ही अनुभव का विषय है। इसलिए इन चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-त्वचा-मन बुद्धि आदि से जो देखा-सुना-सूँघा-चखा वा स्पर्श किया जाता है या मनन चिन्तन करके जो जाना-बूझा जाता है, वह प्रापणीय ब्रह्म होता ही नहीं है, वरन् वह अविनाशी ब्रह्म तो वह होता है जो इन सब इन्द्रियों में देखने, सुनने, सूँघने, बोलने, स्पर्श करने, मनन करने, सोचने-समझने की सामर्थ्य भरता है। उस अनन्त–अविनाशी ब्रह्म को आत्मा से जानने के लिये तो इन सब इन्द्रियों को अर्थात् इन सब बाह्येन्द्रियों-चक्षु-श्रोत्र आदियों को ही नहीं वरन् अन्तरि–न्द्रियों–मन बुद्धि आदि को भी पहले एकाग्र और फिर निरुद्ध करना पड़ता है, तभी कहीं जाकर असम्प्रज्ञात समाधि में यह मनुष्य उसे जान पाता है, यह साधक उसका साक्षात् कर पाता है।

इसलिये सच्चे साधक को चाहिये कि उस सब जगत् को गति देने वाले, पर स्वयं सर्वव्यापक होने से हमारी तरह कभी गति में न आने वाले, सदा अज्ञानियों अर्थात् अविद्या अस्मिता राग द्वेष आदि से ग्रस्त जनों से दूर और ज्ञानी–ध्यानियों के सदा समीप रहने वाले, सदा सबके भीतर-बाहर वर्तमान रहने वाले प्रभु को सर्वत्र अनुभव करे। वह उसी में सबको बसा हुआ और सब में उसी को बसा हुआ जानकर उस एक अद्वितीय ब्रह्म के पाने और सर्वथा मोह शोक से निरन्तर ऊपर उठने का प्रयत्न करे।

साधक को चाहिये कि वह सदा उस सर्वत्र व्यापक सर्वशक्तिमान्

निराकार सर्वान्तर्यामी, सब प्रकार से शुद्ध-पवित्र, निष्पाप-निष्कलङ्क, ज्ञानी, सबके मन की वृत्तियों तक को जानने वाले, मनीषी, सर्वज्ञ स्वयम्भू परमेश्वर की सब प्राणियों के प्रति अद्‌भुत् न्याय व्यवस्था को देखकर उसके इस परम दिव्य स्वरूप को अपने भीतर स्थिर कर और निरन्तर उसका धारणा-ध्यान-समाधि द्वारा साक्षात् करने का अभ्यास करे ।

सम्भूति-असम्भूति, विद्या-अविद्या का रहस्य

साधना का अधिकारी बन जाने और बौद्धिक रूप से उस अनन्त-अविनाशी परमेश्वर के स्वरूप को जान लेने पर भी चार ग्रन्थियाँ ऐसी हैं कि जिनके खुले बिना साधक की राह खुलती नहीं, वह साधक आगे बढ़ता नहीं। ये चारों वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका बोध प्राप्त करना साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि इनका सम्यक् बोध प्राप्त किये बिना मनुष्य राह में कहीं अटकता और भटकता रहता है। फिर भी यदि वह हठ वश आगे बढ़ने का प्रयास करता है तो पुनः पुनः वह फिर लुढ़कता है, फिर फिसलता है, फिर गिरता है, और हार कर पीछे लौटता है। क्योंकि उसकी राह खुलती नहीं, उसका पथ उसके हाथ लगता नहीं। जैसे एक साधनाशील महानुभाव अपनी बीती स्वयं सुना रहा था कि—"मैं पर्याप्त समय तक साधना करता रहा। जो भी उसमें मेरा लगता रहा। परन्तु कुछ ही दिन हुए कि मेरा उधर से कुछ ऐसा जी उखड़ा कि फिर वह सब नीरस ही प्रतीत होने लगा……। मैं तब अपने नेतृत्व करने वाले गुरु के समीप गया। वे भी मुझे कुछ ऐसा सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे पाए ……। फिर मैं हार कर घर आ गया। अब घर में ही दस-पन्द्रह मिनट सन्ध्या आदि कर लेता हूँ, पर साधना का सब खेल समाप्त सा हो गया। अब टेपरिकार्ड पर महापुरुषों के आध्यात्मिक प्रवचन एवं प्रभु भक्ति भरे गीत टेप कर-कर के सुनता रहता हूँ और अपना दिल बहलाता रहता हूँ। परन्तु फिर भी न जाने क्या बात है कि मुझे ऐसा लगता है कि "जैसे न जाने मेरी

क्या मूल्यवान् वस्तु खो गई है। बहुत हाथ पैर मारता हूँ पर उस स्थिति को मैं अब हस्तगत नहीं कर पा रहा हूँ। ऐसी स्थिति में ऋषिकेश एवं उत्तरकाशी आदि-आदि स्थानों पर भी जब मुझे कुछ हाथ पल्ले नहीं पड़ता दिखाई दिया तो मेरे पास सिवाय घर पर मुड़ कर आने के कुछ और रह ही नहीं गया। सो अब सत्संग, स्वाध्याय और टेप आदि में लगा रहता हूँ। सोचता-विचारता भी बहुत कुछ हूँ पर न जाने क्यों कुछ हाथ पल्ले नहीं पड़ रहा, यह मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।"

ऐसे कई योगी, वैरागी, संन्यासी बन-बन कर भी पुन: यह सब गेरुए वस्त्र वा योग के आडम्बरों को फेंक-फाँक कर मुड़-मुड़ कर सामान्य जनों के समान जीवन व्यतीत करने लगते हैं। क्योंकि जब उन्हें कोई राह दीखती ही नहीं तो वे और करें भी तो क्या करें। यद्यपि वे इस सम्बन्ध में "अभ्यास-वैराग्य" पर बड़ी लम्बी चौडी व्याख्यायें सुनते हैं, उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ अध्ययन भी करते हैं, अनुभवियों के बहुत कुछ अनुभव भी सुनते रहते हैं, बड़े-बड़े सुन्दर वैराग्य एवं प्रभु भक्ति भरे गीतों को भी वे झूम-झूम कर गाते एवं सुनते हैं। परन्तु आश्चर्य यह होता है कि जब वे उधर चलने लगते हैं, उस राह पर पग धरने लगते हैं, तो उनके सम्मुख ऐसा अन्धकार सा छा जाता है कि फिर उन्हें कोई राह ही नहीं सूझती। हरियाणा में एक सज्जन थे, जब वे गृहस्थ थे तो वे बड़े ही स्वाध्यायशील थे, बड़े सत्संगी थे, श्रद्धालु भी थे। उन्हीं का कोई एकाध स्वभाव ऐसा था जिसे देखकर ज्ञानी विद्वान् सदा उन्हें उससे रोकते रहते थे, पर "स्वभावो दुरतिक्रम:" वाली लोकोक्ति के अनुसार वे फिर वैसे के वैसे ही बने रहते थे। आगे चलकर उन्होंने वानप्रस्थ की दीक्षा भी ले ली। एक बार उन्होंने एक मास का मौन भी रखा और उसमें

जप-तप आदि भी सब करते रहे। एक ज्ञानी विद्वान् भी उस समय उनके समीप गया और एकाध समय उनके समीप रहा भी, और यज्ञ आदि के पश्चात् उन्हें समुचित उपदेश भी दे आया। आगे चलकर वह ही ज्ञानी विद्वान् जब अध्यात्म विषय को लेकर कुछ दिन कहीं बोल रहा था तो उन दिनों वे वानप्रस्थ महानुभाव भी वहीं आये हुए थे। वे उन्हीं दिनों में एक दिन बड़ी श्रद्धा से उस विद्वान् को अपनी कुटी पर ले गये, और फलादि द्वारा सेवा-सत्कार आदि करने के उपरान्त अपनी रामकहानी उसे सुनाने लगे। वे कहने लगे—"मैंने एक मास का जो मौन रखा था। वह २७ दिन तो बड़ा ठीक चलता रहा, पर २८ वें दिन मेरे भीतर बड़ी जोर से और बड़े स्पष्ट रूप से यह मुझे सुनाई देने लगा कि—'इस जीवन में तुम कितना भी सिर क्यों न पटक लो, तुम्हारा कुछ नहीं बनना।" यह सुनाते-सुनाते वे बहुत रोए और बड़े दुःखी हुए। फिर धैर्य धारण करके वे बोले कि-"अब मैं क्या करूँ, यह मुझे कुछ समझ नहीं आता। अतः अब आप ही मुझे कुछ राह बताईये, नहीं तो मैं बहुत खराब होऊँगा। क्योंकि अब तो मैं न तो घर का रहा न बाहर का रहा आदि-आदि।" इसके बाद उस विद्वान् ने उन्हें धीर बँधाई, सान्त्वना दी और जैसा भी वे उचित समझते थे उन्हें समझाते रहे। वे बोले कि—"देखो ! हिम्मत न हारो, उस द्वार पर तुम्हारा कुछ बनेगा नहीं तो कुछ बिगड़ने का तो प्रश्न ही नहीं है, हाँ ऐसे-ऐसे चलते चले जाओ तो तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा। इस जन्म में कुछ नहीं बनेगा तो आगे बन जायेगा, इसमें घबराने की क्या बात

है। जितना भी इस जन्म में चलते रहोगे उतना ही आगे को मार्ग कम रह जायेगा। उस दर पर हानि का तो कोई प्रश्न ही नहीं, वहाँ तो हर प्रकार से लाभ ही लाभ है। अत: न तो कभी निराश होवो और न ही कभी हताश होवो।" ऐसे उसकी पात्रता के अनुसार कुछ यथोचित उपदेश देने पर वह सज्जन फिर निरन्तर लगा रहा। धीरे-धीरे उसने संन्यास भी ले लिया और जहाँ तक भी सम्भव होता है, वह आगे बढ़ने और ऊपर उठने का प्रयास भी करता रहता है····।"

अनेकों व्यक्तियों की ऐसी घटनायें हैं, ऐसे अनुभव हैं, जो यहाँ देने उचित नहीं प्रतीत होते हैं, और न ही उनकी आवश्यकता है। तो भी मैं इतना तो अवश्य अनुभव करता हूँ कि साधकों को चाहिये कि वे इस पथ के पथिक बनने के लिये जहाँ प्रथम अपने को अधिकारी बनाने का प्रयास करें, और ईश्वर के स्वरूप को बौद्धिक रूप से भली-भाँति समझने का यत्न करें, वहाँ कुछ और आगे बढ़ने के लिये वे "सम्भूति-असम्भूति", "विद्या-अविद्या"-इन चारों ग्रन्थियों को खोलने के लिये भी हार्दिक पुरुषार्थ करें। अर्थात् इन चारों को भली-भाँति समझने और तदनुरूप जीवन को ढालने का प्रयास करें। यदि वे ऐसा करेंगे तो आशा ही नहीं वरन् मुझे पूर्ण विश्वास है कि फिर वे अपने पथ पर जब एक बार आगे बढ़ेंगे तो फिर निरन्तर अबाध गति से आगे बढ़ते ही जायेंगे। फिर वे कहीं राह में अटकेंगे नहीं, भटकेंगे नहीं, लुढ़केंगे नहीं, फिसलेंगे नहीं ··।

ये "सम्भूति-असम्भूति" क्या हैं, ये "विद्या-अविद्या" क्या हैं ? वेदानुसार इन पर विचार करते हैं। वेद कहता है—

जो महानुभाव असम्भूति की उपासना करते हैं, असम्भूति का सेवन करते हैं, वे गहन अन्धकार में जाते हैं। और जो सदा सम्भूति में ही रत रहते हैं वे उनसे भी बढ़कर गाढ़ अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

जो धीर-गम्भीर-ज्ञानी महापुरुष हैं वे हमें उपदेश करते हैं कि सम्भूति का फल और है और असम्भूति का और।

जो जन सम्भूति और विनाश [अर्थात् असम्भूति]–इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह विनाश अर्थात् असम्भूति से मृत्यु को तैर कर सम्भूति से अमरत्व को प्राप्त होता है।

ऐसे ही जो अविद्या की उपासना करते हैं; वे गहन अंधकार में प्रवेश करते हैं। और जो सदा विद्या में ही रत रहते हैं वे उससे भी बढ़ कर घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

जो धीर–गम्भीर ज्ञानी महापुरुष हमें उपदेश करते हैं वे विद्या का और फल बतलाते हैं और अविद्या का और।

जो महानुभाव "विद्या और अविद्या" इन दोनों को साथ-साथ जानता है, साथ-साथ समझता है, वह अविद्या से मृत्यु को तैर कर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त होता है।

ये सम्भूति–असम्भूति क्या है, यह विनाश क्या है, प्रथम इन पर विचार करते हैं। वेद से ही ज्ञात हो जाता है कि जो 'असम्भूति' है, वही 'विनाश' है। जो 'विनाश' है वही 'असम्भूति' है। अब यह असम्भूति किसको कहते हैं ? असम्भूति प्रकृति की उस अवस्था को कहते हैं जो कि अभी कार्यरूप में परिणत ही नहीं हुई है।

अर्थात् जो अभी कारण रूप में ही विद्यमान है, वह असम्भूति कहाती है ।

अब जो असम्भूति को विनाश भी कहा गया है तो उसका भी अभिप्राय वही ही है । क्योंकि 'विनाश' भी प्रकृति की उस अवस्था का नाम है जिसमें ये संसार के पदार्थ वा कार्यरूप प्रकृति अपने कारणों में लीन हो जाती है । जैसे कि वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि कोई भी वस्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती । और जिसे हम नष्ट हुई समझते हैं, वह वस्तु भी वास्तव में अपने मूल कारणों में विलीन हो गयी होती है । यही सिद्धान्त वेद का भी है । इसलिए वेद ने यहाँ असम्भूति का पर्यायवाची शब्द 'विनाश' बताया है । क्योंकि 'विनाश' शब्द का भी तो यही अर्थ "वि + णश् अदर्शने" । तात्पर्य यह है कि 'विनाश' उसे कहते हैं कि जिस अवस्था में पदार्थ विशेष रूप से हमारे से ओझल हो जायें, अदृश्य हो जायें, अपने मूल कारणों में विलीन हो जायें, ऐसे कि फिर हम उनका पता भी नहीं लगा सकें । यही विनाश का वास्तविक अर्थ है । इसके विपरीत "सम्भूति" प्रकृति की उस अवस्था का नाम है जो कार्यरूप में परिणत हो चुकी हो । अर्थात् जो कार्यरूप प्रकृति है, वही सम्भूति कहलाती है ।

अब वेद का कहना यह है कि जो साधक इस 'असम्भूति'-विनाश अर्थात् कारण रूप प्रकृति की उपासना करता है, सदा उसी का ही विचार करता रहता है, वह गहन अन्धकार को प्राप्त होता है, और यदि कोई "सम्भूति"-इस कार्यरूप प्रकृति अर्थात् इस कार्यरूप जगत् में सदा रत रहता है-सर्वदा रमण करता रहता है, तो वह उससे भी बढ़कर गाढ़ अन्धकार में जाता है ।

यह सुनकर एक बार तो साधक घबरा जाता है। क्योंकि जब वह सुनता है कि 'असम्भूति' की ओर जायेंगे तो गहन अन्धकार में जायेंगे और सम्भूति की ओर जायेंगे तो उससे भी बढ़कर अति गहन अन्धकार में जायेंगे। इस पर वह सोचकर यह निर्णय करता है कि–यदि 'असम्भूति' की उपासना-सेवन से मनुष्य गड्ढे में गिरता है तो सम्भूति के सेवन से कुएँ में गिरता है, तो ऐसी दशा में ये दोनों ही सेवन करने योग्य नहीं हैं।" ऐसा सोचने पर वेद कहता है कि धीरों का–अनुभवियों का कहना यह है कि वैसे इनका पृथक्-पृथक् आचरण करने पर तो इनका अपने-अपने ढंग का फल है, परन्तु यदि कोई साधक इन दोनों को साथ-साथ जानता है और इनके अनुसार आचरण करता है तो फिर ये दोनों उसके लिये वरदान बन जाते हैं। और फिर ये उसका सब प्रकार से कल्याण ही कल्याण करते हैं। असम्भूति-विनाश तो उसको तब मृत्यु से, कष्टों से तार देता है और सम्भूति तब उसे अमर कर देती है, उसे अमृतत्व प्राप्त करा देती है।

वेद के सम्भूति-असम्भूति के भावों को सरलता से यों समझा जा सकता है।

एक साधक ऐसा है जो उदासीन सा बना हुआ सदा यही विचारता रहता है कि 'इस शरीर का पालन पोषण क्या करना, क्योंकि एक दिन तो इसने मिट्टी में ही मिल जाना है, अपने मूल कारणों में ही लीन हो जाना है। इस शरीर में जो पृथ्वी के परमाणु हैं, वे पृथ्वी में, अग्नि के परमाणु अग्नि में, जल के परमाणु जल में मिल जायेंगे इत्यादि। ऐसा सोचने वाला व्यक्ति सदा उदासीन सा रहता है, सदा निराश और हताश सा रहता है। उसके जीवन में

किसी प्रकार का उत्साह नहीं रहता, उमंग नहीं रहती। उसे यदि कोई कहता है कि-"चलो अमुक व्यक्ति बहुत महान् है, बहुत नेक है, दर्शन कर आएँ, कुछ उनसे सुन आएँ।" तो इस पर वह कहता है- "क्या करना मिलकर, क्योंकि फिर उससे बिछुड़ना पड़ेगा…।" ऐसे ही उसे यदि कोई कहता है कि- "चलो अमुक दर्शनीय भवन वा वस्तु विशेष देख आयें" तो फिर उससे यही सुनने को मिलता है- "क्या देखना, एक दिन तो उसने मिट्टी में मिल जाना है…।" वेद के शब्दों के अनुसार ऐसा व्यक्ति सचमुच गहन अन्धकार को प्राप्त होता है। क्योंकि वह सदा सब पदार्थों को, यहाँ तक कि अपने इस कार्यरूप शरीर को भी-अपने उस वर्तमान रूप में देखता ही नहीं, वरन् वह तो सदा उसके अपने-अपने कारणों में लीन हो जाने वाले रूप का ही सदा विचार करता रहता है। इसलिये उन पदार्थों और उस शरीर से वह यथोचित उपयोग ही नहीं ले पाता। इस प्रकार यह ही उसका अन्धकार में जाना है कि जिस कार्य वा उद्देश्य के लिये वे पदार्थ और वह शरीर उसे मिले, उसमें यह लग नहीं पाता। एक बेटा पचास सहस्र की गन्त्री-मोटर लाया और पिताजी से निवेदन किया "पिताजी ! आपको अमुक स्थान पर जाना था, चलिये कार में बैठिये, आपको अपने अभीष्ट स्थान पर ले चलें।" पिता बोला—"बेटा ! क्या करना मोटर में बैठकर, इसने तो कल को मिट्टी में मिल जाना है।" इस पर बेटे ने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया— "पिताजी ! जब यह मिट्टी में मिल जायेगी, अपने कारणों में लीन हो जायेगी तो तब देखा जायेगा, अभी तो यह अपने कारणों में लीन

नहीं हुई है । अभी तो यह सब प्रकार से कार्यरूप में वर्तमान हुई गन्त्री है, नई कार है । इसीलिये अभी तो आप जहाँ भी जाना चाहते हैं, यह आपको अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचा सकती है ।" इस प्रकार यह शरीर रूपी रथ भी प्रभु ने हमें प्रदान किया हुआ है । जब यह मिट्टी में मिल जायेगा, अपने मूल कारणों में लीन हो जायेगा, अर्थात् विनाश को प्राप्य हो जायेगा तो तब देखा जायेगा । अभी तो यह सब प्रकार से ठीक-ठाक है, सही-सलामत है । इसलिये यह हमें पर्याप्त काल पर्यन्त अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में सहायता दे सकता है । अतः इसका समुचित लाभ उठाना ही चाहिये। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम अपने शरीर का सही उपयोग कर अन्धकार से बच जायेंगे ।

वेद कहता है, कि इसके विपरीत जो सम्भूति में, कार्य रूप जगत् में ही सदा रत रहता है, संसार के नानाविध शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि विषयों में सदा लीन रहता है, संसार के व्यक्तियों, स्थानों और पदार्थों में ही सदा रमण करता रहता है, संसार के भोग विलासों में ही सदा संलग्न रहता है, वह तो और भी अधिक गहनतम अन्धकार को प्राप्त होता है ।

वेद ने इस सम्भूति में—कार्य रूप संसार में रत रहने वाले मनुष्यों को उस "असम्भूति" के उपासक से भी अधिक गहनतम अन्धकार में प्रविष्ट होने वाला क्यों बतलाया ? इसलिये कि वह असम्भूति का उपासक व्यक्ति तो सदा इस वर्तमान सुन्दर बने हुए संसार के पदार्थों को भी विनश्वर मानता हुआ, इनके उन मूल कारणों का ही सदा विचार करता रहता है जिनमें कि इन सब पदार्थों ने अन्त में विलीन होना है । इस प्रकार निरन्तर ऐसा सोचते रहने से वह कार्यरूप संसार अर्थात् उसके नानाविध पदार्थ उसको

अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाते । और वह इस तरह कम से कम अति भोग विलासों से, नानाविध दुर्गुण-दुर्व्यसनों से इनकी प्राप्ति के लिये किये जाने वाले पाप-अपराधों से बच जाता है । और अन्त में जब ये पदार्थ समाप्त होते हैं तो इनकी वास्तविकता का उसको निरन्तर ज्ञान और भाव रहने के कारण इनके समाप्त होने पर उसको कष्ट भी नहीं होता । पर यह दूसरा व्यक्ति जो इस संसार के नानाविध भोग-विलासों में लीन है, इन वस्तु, व्यक्ति और स्थानों में आसक्त है, वह तो कभी यह विचारता भी नहीं है कि इन सब ने भी कभी समाप्त हो जाना है । ऐसी परिस्थिति में जब ये पदार्थ सहसा समाप्त हो जाते हैं तो फिर उसको अत्यन्त कष्ट होता है, और स्वयं भी वह जब मरता है तो उसे बड़ा दुःख होता है । इसके अतिरिक्त जीते हुए भी वह इन सब पदार्थों की उपलब्धि के लिये नानाविध पापों और अपराधों को करता रहता है । और फिर उनके उपलब्ध हो जाने पर निरन्तर उन्हीं में ही डूबे रहने के कारण वह अपना सब समय और शरीर उन्हीं के भोगने में स्वाहा कर देता है । इसलिये यह उससे भी बढ़कर गहनतम अन्धकार में प्रवेश करता है ।

वैसे "सम्भूति-असम्भूति" इन दोनों का फल पृथक-पृथक होने पर भी यदि कोई बुद्धिमान् इन दोनों का साथ-साथ समझ ले और तदनुसार आचरण करे तो फिर ये दोनों ही उसका भद्र सम्पादन कर सकते हैं । इसलिये साधक को चाहिये कि वह "सम्भूति-असम्भूति"–इन दोनों के यथार्थ बोध को सदा अपने सम्मुख रखे । ऐसी दशा में तब "यह सब कुछ नश्वर है, विनाश-शील है, कार्य से कपने कारणों में विलीन होने वाला है । इस प्रकार सम्भूति-नानाविध कार्यरूप जगत् में, असम्भूति-कारण रूपता के इस विवेक के निरन्तर बने रहने का परिणाम यह होगा कि फिर कभी इस सबके विनाश से, इस सबके अपने कारणरूप प्रकृति में विलीन हो जाने से उसे

कष्ट नहीं होगा, दुःख नहीं होगा। यहाँ तक कि उसकी स्वयं मृत्यु तक भी होगी तो भी उसे दुःख नहीं होगा। क्योंकि इसका उसे भली भाँति बोध होगा। इसलिये कहा गया है कि सामान्य कष्टों की तो बात ही क्या कहनी, वह तो मृत्यु तक को भी तर जाता है। यही तो मृत्यु से तैरना है कि उसे यह भली-भाँति ज्ञात हो रहा होता है कि 'नष्ट होने वाली वस्तु ही नष्ट हो रही है, समाप्त होने वाली वस्तु ही समाप्त हो रही है, मरने वाली वस्तु ही मर रही है। पर इस विवेक के साथ-साथ भी उसे चाहिये कि वह इस कार्यरूप प्रकृति अर्थात् इस कार्यरूप में वर्तमान अपने इस शरीर एवं संसार के इन पदार्थों का यथोचित लाभ उठाकर इनसे जहाँ साँसरिक सुख भोगे वहाँ अमरत्त्व को प्राप्त करने का भी प्रयास करे, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस, दोनों को प्राप्त करे। क्योंकि प्रभु ने यह शरीर रूपी रथ इन दोनों उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिये ही प्रदान किया है। अथर्ववेद में स्पष्ट लिखा है कि—

"[1] आ हि रोहेममृतं सुख रथम्" अर्थात् हे जीव ! तू इस मानव शरीर रूपी सुन्दर रथ पर आरूढ़ हो, क्योंकि यह रथ जहाँ साँसारिक सुख-सौभाग्यों को प्रदान करने वाला है वहाँ अमृतत्त्व का भी यह साधन है।" इस प्रकार साधक का कर्त्तव्य है कि वह सम्भूति-असम्भूति के सम्यक् बोध से यथोचित लाभ उठाये ताकि उसकी राह खुलती रहे, ताकि फिर वह कहीं अटके नहीं, कहीं भटके नहीं और अबाधगति से सदा आगे ही आगे बढ़ता रहे।

—※—

४ अथर्ववेद ८१.६ ॥

'सम्भूति-असम्भूति' के समान ये 'विद्या-अविद्या' क्या हैं ?

अपा इस पर विचार करते हैं—

वेद में ऐसा बताया गया है कि 'जो मनुष्य अविद्या को उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में जाते हैं और जो सदा विद्या में ही रत रहते हैं वे उससे भी अधिक गहन अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

ज्ञानी जनों का कहना है कि विद्या का फल और है अविद्या का और। जो मनुष्य विद्या और अविद्या-इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को तैर कर विद्या स अमृत को प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्रथम तो वेद में बताया गया है कि जहाँ अविद्या मनुष्य को गहन अन्धकार की ओर ले जाती है वहाँ विद्या मनुष्य को और भी अधिक गहन अन्धकार की ओर ले जाती है। परन्तु बाद में इन्हीं के सम्बन्ध में पुनः वेद में बतलाया गया है कि ये दोनों ही मनुष्य को उठाने वाली भी हैं, प्रकाश की ओर ले जानो वाली भी हैं। पर कब ? जबकि इन दोनों का सम्यक् प्रकार से बोध प्राप्त कर के कोई इनसे लाभ उठाए तब।

अब यहाँ "विद्या" का अर्थ तो 'ज्ञान' है, यह निर्विवाद है ही, पर यह अविद्या क्या है, इस पर विचार करना है। अब यदि 'अविद्या' का अर्थ 'न विद्या–अविद्या' अर्थात् विद्या का अभाव ग्रहण किया जाये तो उसका सेवन करना-कार्य में लाना ही नहीं बन

सकता। और फिर उस अभावात्मक वस्तु से मृत्यु को तैरना तो सर्वथा असंभव है हो, इसलिये यहाँ 'अविद्या' का अर्थ विद्या का अभाव न हो कर 'विद्या' से भिन्न कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिए जो विद्या जैसी भी हो और विद्या की पूरक भी हो। तो ऐसी वस्तु 'कर्म' ही हो सकती है। क्योंकि विद्या-ज्ञान के साथ कर्म ही एक ऐसी वस्तु हो सकती है जो विद्या के समान जहाँ मनुष्य के लिए आवश्यक है, वहाँ विद्या की पूरक भी है। इसलिये उपर्युक्त प्रसंग में जहाँ विद्या का अर्थ हुआ 'ज्ञान' वहाँ 'अविद्या' काअर्थ हुआ 'कर्म'।

अब जो भी व्यक्ति 'अविद्या' केवल कर्म अर्थात् ज्ञानशून्य कर्म की उपासना करते हैं-सेवन करते हैं, वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो 'विद्या'-ज्ञान-केवल ज्ञान अर्थात् कर्मशून्य ज्ञान में हो सदा रत रहते हैं, वे तो उनसे भी बढ़कर गहन अन्धकार में जाते हैं।

इस विद्या-ज्ञान का फल और है और अविद्या-कर्म का फल और। परन्तु यदि कोई बुद्धिमान् इन दोनों को साथ-साथ भली-भाँति जानकर इनका सदुपयोग करता है, तो फिर वह अविद्या-कर्म से मृत्यु रूप कष्ट तक को तर जाता है और विद्या-ज्ञान से अमरत्व तक को पा लेता है।

इस प्रकार जो व्यक्ति कर्म को ही सदा महत्व देता है, ज्ञान की कभी परवाह ही नहीं करता है तो उस व्यक्ति का 'कर्म' भला कैसे उसको मृत्यु रूप कष्ट से तार सकता है। मृत्यु की बात तो बड़ी दूर की है, वह तो इन सामान्य कष्ट-क्लेशों से भी मनुष्य को नहीं तार सकता। क्योंकि जिस कर्म के पीछे ज्ञान नहीं होगा वह कर्म तो हमें गर्त में ही गिरायेगा, दुःख-दौर्भाग्यों की ओर ही ले जायेगा,

कष्ट-क्लेशों को ही प्राप्त करायेगा । जैसे कि एक व्यक्ति है जिसको यह बोध नहीं-यह ज्ञान नहीं कि लवित्र-चाकु की धार किस ओर है तो ऐसा ज्ञानशून्य कर्मठ व्यक्ति तो चाकु से शाक-फल क्या काट पायेगा, वह तो उससे अपना हाथ ही काट लेगा और परिणाम में, कष्ट को ही पायेगा । ऐसे ज्ञानशून्य कर्म से तो मनुष्य सामान्य कष्टों का भी नहीं तैर सकता, मृत्यु जैसे कष्ट की तो बात ही क्या है । पर इसके विपरीत यदि एक व्यक्ति को यह ज्ञान है, यह बोध है कि लवित्र–चाकु की धार इस ओर है । इसलिए यदि इस चाकु को यों पकड़ा जायेगा तो इससे हाथ न कट कर फल ही कटेगा, और फिर उसके सेवन से वह तृप्त भी हो जायेगा । पर यह ज्ञान होते हुए भी यदि वह तदनुरूप कर्म नहीं करता, तो केवल इस ज्ञान से अर्थात कर्मशून्य ज्ञानमात्र से ही उस लवित्र-चाकु से स्वयं तो शाक–फल आदि कटकर उसका आहार नहीं बन जायेंगे और उसकी बुबुक्षा को शान्त कर उसे तृप्त नहीं कर पायेंगे । हाँ यदि किसी मनुष्य को यह ज्ञान भी हो और इस ज्ञान के अनुरूप उसके जीवन में कर्म भी हो, इससे वह मनुष्य ज्ञानपूर्वक उस फल को काटेगा, तो तब वह उस कर्म से अपने बुभुक्षा रूपी कष्ट को तर कर तृप्ति और स्वास्थ्य सुख को भी पा सकेगा ।

ऐसे ही प्रभु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि "योगसाधन के बिना कोई उसे पाता नहीं" । अब जिसको योग साधनों के सम्बन्ध में तो कुछ ज्ञान ही नहीं हो और कर्मशील वह बहुत हो, तो फिर भले ही वह कितना भी सिर क्यों न पटक डाले, कितना ही कर्म--शील क्यों न हो जाय, तो भी वह प्रभु को पा नहीं सकता । लेखक ने स्वयं ही ऐसे सिर-पैर पटकते हुए एक साधक को रात के १२-१ बजे देखा है, और उसकी दयनीय दशा पर बड़ा तरस खाया है, और

उसका कष्ट आदि पूछा है तथा वह ज्ञान पूर्वक अपनी राह पर चले, यह चाहा है। पर अगर उसे निरन्तर सिर-पैर पटकने पर ही सन्तोष है तो फिर क्या किया जा सकता है। पर इसके विपरीत यदि एक व्यक्ति को भली प्रकार से साधनों का बोध है। बोध भी ऐसा कि वह उनको अच्छी प्रकार से केवल स्वयं ही नहीं समझता, वरन् बहुतों को भली प्रकार उनका बोध कराकर हृदयङ्गम भी करा सकता है। और वह भी इतने अच्छे ढंग से कि अगले भी मुग्ध हो जायं। परन्तु इस योग विद्या के, इस योग विज्ञान के शब्दार्थ बोध में इतने निपुण होने पर भी यदि वह तदनुसार योग साधनों का अनुष्ठान नहीं करता, तदनुरूप 'यम-नियम-आसन प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान–समाधि आदि को अपनाता नहीं है तो वह और भी अधिक गहन अन्धकार को प्राप्त होता है।

ऐसे दोनों प्रकार के व्यक्ति संसार में प्राय: देखने को मिलते हैं। एक तो वे जो घर से 'भगवान्' का साक्षात् करने के उद्देश्य से ही निकलते हैं पर वे ज्ञान को बिल्कुल व्यर्थ समझ कर निरन्तर कर्म पर ही विश्वास रखते हैं। इसलिये वे ज्ञान के आभाव में निरन्तर एक टाँग पर खड़े रहने को, निरन्तर लकड़ फूँक कर अग्नि तपन को वा पँचाग्नितपन को ही सब कुछ समझते हैं। तो ऐसे व्यक्तियों का सारा जीवन यों ही व्यर्थ व्यतीत हो जाता है। दूसरे वे लोग हैं जो इस योगविद्या की बहुत अच्छी जानकारी रखते हैं, इस पर बड़े युक्तियुक्त सुन्दर-सुन्दर व्याख्यान भी दे सकते हैं, पर आचरण शून्य होने से-बिना तदनुकूल कुछ करने से उनका जीवन भी केवल योग का बखान करतेहुए यों हीं व्यतीत हो जाता है। प्राय: ऐसे दोनों प्रकार के व्यक्ति जीवनान्त में पश्चात्ताप करते हुए ही देखे जाते हैं। एक तो यह कहते हुए कि–"हम बिना कुछ जाने बूझे ही सारी आयु

अन्धेरे में लाठी चलाते रहे, इसलिये हमने निरन्तर वर्षों खड़े-खड़े अपनी दोनों टाँगों को ही बेकार कर लिया, शरीर को भी बेकार कर लिया, पर लाभ कुछ हुआ नहीं"। दूसरे यह कहते हुए पश्चात्ताप करते हैं कि–"हम इस दिव्य विद्या को जानकर भी केवल उस पर बढ़िया लिखने और बढ़िया से बढ़िया बोलने में ही लगे रहे, पर स्वयं तदनुसार कुछ कर ही नहीं सके। इस प्रकार बिना कुछ किये ही केवल ज्ञान का बखान ही करते रहे"। इसलिए वेद का यह आदेश है, उपदेश है, कि जीवन की पूर्ण सफलता के लिए दोनों की ही अपेक्षा है। इनमें से किसी एक की भी अवहेलना करके कोई साधक आगे बढ़ नहीं सकता।

वेद में यह इसलिए ही तो कहा गया है कि अविद्या-केवल कर्म अर्थात् ज्ञानशून्य कर्म वाला साधक गहन अन्धकार में जाता है पर विद्या-केवल ज्ञान-कर्मशून्य ज्ञान वाला तो उससे भी बढ़कर गाढ़ अन्धकार में जाता है क्योंकि ज्ञानशून्य होकर लवित्र से-चाकू से फल काटता है, सो सम्भव है धार वाला भाग हाथ की ओर होने से फल न कट कर उसका हाथ ही कट जावे और हाथ से रक्त का स्राव होने लगे। पर बहुत जल्दी ही वह मनुष्य अपने अनुभव से यह सीख लेगा कि "मैंने लवित्र ठीक नहीं पकड़ा था। तो यदि मैं लवित्र के इस धार वाले भाग को उस ओर अर्थात् फल की ओर कर लूं और उस दूसरे भाग को हाथ की ओर करलूँ तो फिर यह निश्चित है कि मेरा हाथ न कट कर उससे फल ही कटेगा। और मैं फिर रक्त-स्राव के कष्ट को न पा कर, कटे हुए फल का सेवन कर तृप्ति को ही पाऊंगा। अब ऐसा कर्मशील व्यक्ति तो एक बार गलती करके भी अनुभव से सीधे रास्ते पर आ सकता है और अपने अभीष्ट को पा सकता है। अतः ज्ञानशून्य होने से उसका समय और शक्ति का दुरुपयोग तो हो सकता है, उसके समय और शक्ति का अपव्यय तो

हो सकता है, पर अनुभव से वह जल्दी ही रास्ते पर आ जाता है। अतः यह अन्धकार में तो जाता है, पर उससे कम जो कि यह तो भली–भांति जानता है कि लवित्र को ऐसे पकड़ने से फल ही कटता है, हाथ नहीं, और फिर उस फल के सेवन से मनुष्य तृप्त होता है। पर यह सब बोध होने पर भी यदि वह तदनुसार लवित्र पकड़ कर फल काटता नहीं और खाता नहीं, तो फिर ऐसे व्यक्ति का क्या बनेगा ? तभी तो वेद में उसको उस ज्ञानशून्य कर्मशील साधक की अपेक्षा भी अधिक गहन अन्धकार में जाने वाला कहा गया हैं।

अब जो चलता रहेगा, कुछ न कुछ करता ही रहेगा, तो भी धीरे वा जल्दी, देर वा सवेर उसके अपने लक्ष्य पर पहुंचने की सम्भावना हो सकती है। पर जो बिल्कुल चलता ही नहीं, बिल्कुल कुछ करता ही नहीं. केवल उसको जानता ही जानता है, केवल उसको गाता ही गाता है, तो उसका लक्ष्य पर पहुंचना तो असम्भव ही होगा। इसलिए वेद में उसे, उस केवल कर्म का सेवन करने वाले से अधिक गहन अन्धकार में जाने वाला कहा गया है।

इसके अतिरिक्त "विद्या–अविद्या" के और भी कई सुन्दर और प्रेरणाप्रद अर्थ हैं जो साधकों के लिये अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं, प्रेरणाप्रद हैं। उनमें से एकाध और भी यहाँ दिया जाता है।

[1] विद्या कहते हैं उस ज्ञान को जिससे मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है, निःश्रेयस को प्राप्त करता है। इस प्रकार विद्या का अर्थ हुआ अध्यात्म विद्या-आध्यात्मिक ज्ञान, और अविद्या उसको कहते हैं जो आध्यात्मिक ज्ञान न हो पर तद्भिन्न कोई ऐसा ज्ञान हो जो उसका पूरक हो। जो ऐसा ज्ञान है, वह है भौतिक ज्ञान। इन दोनों

---

१ सा विद्या या विमुक्तये।

२ अंगिरा ने शौनक को कहा कि—"द्वे विद्येवेदितव्ये इति हास्म यद्-ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च॥ मुण्डक १.४॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ मु० १.५॥

को 2यदि मुण्डकोपनिषद् की भाषा में कहें, अङ्गिरा ऋषि के शब्दों में कहें तो परा और अपरा विद्या कह सकते हैं। अपरा वह विद्या है जिसमें ऋग्वेद आदि को जान कर तदनुसार लौकिक सुख-सौभाग्य को प्राप्त करना अर्थात् अभ्युदय को प्राप्त करना होता है, और परा विद्या वह है जिससे उस अविनाशी परब्रह्म का साक्षात्कार करना होता हैं।

अब जो केवल भौतिक ज्ञान को लेकर चलते हैं वे तो गहन अन्धकार में और जो केवल अध्यात्मज्ञान को लेकर चलते हैं वे उससे भी बढ़कर गहन अन्धकार में जाते हैं। वैसे इन दोनों के फल पृथक्-पृथक् हैं। अब जो पहले का आचरण करे वह मनुष्य तो गर्त में गिरता है और जो दूसरे का करे तो वह कुएं में गिरता है। इस-लिये इस प्रकार दोनों हो हेय मार्ग लगते हैं। परन्तु वेद कहता है यदि दोनों को साथ-साथ जानकर उनका आचरण किया जाय तो तब अविद्या–भौतिक ज्ञान से तो मनुष्य मृत्यु लाने वाले प्रवाहों को तैर जाता है और अध्यात्मज्ञान से मनुष्य अमरत्त्व को प्राप्त कर लेता है,

अब जिनके पास भौतिक ज्ञान है, भौतिक विज्ञान है, वे उसके आधार पर नानाविध साधनों को प्राप्त कर सकते हैं और उन नानाविध साधनों से-नानाविध उपायों से अर्थात् अपने सर्वाङ्गीण अभ्युदय से अनेकों कष्टों को पार कर सकते हैं। यहाँ तक कि-वे मृत्यु रूप कष्टमय प्रवाहों को भी परे धकेल सकते हैं, और अपने अध्यात्मज्ञान से मृत्यु आदि कष्टों को तैरते हुए अर्थात् इन कष्टों से न विचलित होते हुये यम-नियम···धारणा ध्यान समाधि आदि द्वारा इस मानव चोले में ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। प्रथम जीवन मुक्त होकर फिर मृत्युभय से अनाक्रान्त हुये-हुये अमृतत्त्व-मोक्ष को पा सकते हैं।

ऐसे और भी बहुविध 'सम्भूति-असम्भूति' और विद्या-अविद्या' पर विस्तार से विचार किया जा सकता है। साधकों का कर्त्तव्य है कि वे इनके रहस्य का वास्तविक बोध प्राप्त कर जीवन में इनका सही उपयोग करें, जिससे कि वे अपने सभी प्रकार के कष्टों को, यहां तक कि साक्षात् मृत्यु तक को भी तैर कर अर्थात् उसके कष्ट से भी बिल्कुल न विचलित होकर अन्त में अमरत्त्व को प्राप्त कर सकें।

शरीर-आत्म बोध पूर्वक 'ओ३म्' स्मरण

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के अनुसार साधना के मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी बनने के लिए कर्त्तव्य पंचक का आचरण कर, ईश्वर के स्वरूप का बौद्धिक रूप से ज्ञान प्राप्त कर, और 'सम्भूति-असम्भूति' 'विद्या-अविद्या' का सम्यक् बोध होने पर भी अब यह जानना और आवश्यक है कि साधक के भीतर कौन सा ऐसा तत्त्व है जो प्रभु का साक्षात्कार करेगा वा प्रभु के साक्षात् करने की स्थिति आने पर प्रभु की ओर आगे बढ़ जायेगा, तथा कौन सा तत्त्व ऐसा है जो इधर ही रह जायेगा ? इसका उत्तर यह है कि जैसे इस संसार में एक रथ होता है, उसको चलाने वाला एक सारथि होता है, और उसमें भीतर बैठा हुआ-रथाधिरूढ़ हुआ-हुआ एक यात्री होता है। तो जैसे अभीष्ट स्थानआने पर उस रथ में भीतर बैठा हुआ यात्री उतर कर अन्दर चला जाता है और सारथि तथा रथ बाहर रह जाते हैं। ऐसे ही इस शरीर रूपी रथ के भीतर भी विराजमान हुआ-हुआ रथी आत्मा अभीष्ट उद्देश्य के प्राप्त होने पर इस शरीर रूप रथ से उतर कर प्रभु की ओर आगे बढ़ जाता है और यह स्थूल शरीर रूपी रथ एवं सारथि बुद्धि (सूक्ष्म शरीर) आदि यहां ही रह जाते हैं, अर्थात् अपने मूलकारण प्रकृति में ही विलीन हो जाते हैं। वेद में आगे यह बतलाया गया है कि यह साधक जीव कैसे उस प्रभु को प्राप्त करता है और ये शरीर-बुद्धि आदि कैसे इधर ही रह जाते हैं, अपने मूल कारण प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। वेद आगे यही बतलाता है।

यजुर्वेद के ४०.१५ वें मन्त्र में इस शरीर में रहने वाले जीव को वायु कहते हैं। वायु इस जीव का नाम इसलिये है कि (वाति-

गच्छति शरीराच्छरीरान्तरमिति वायुः) यह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता रहता है। अर्थात् अपने कर्मानुसार यह एक शरीर को छोड़कर दूसरे और दूसरे को छोड़कर तीसरे शरीर में जाता रहता है...। परन्तु यह वह वायु नहीं है जो कि संसार में प्रचलित है। यह वायु तो उस वायु-हवा से बड़ा विलक्षण है। क्योंकि यह वायु तो पृथिव्यादि पंचभूतों में से एक भूत है और यह जड़ है, पर यह उन पंचभूतों में वर्तमान 'वायु' रूप तत्त्व से विलक्षण एक चेतन तत्त्व है। यह वायु-जीव सर्वथा अपार्थिव है। पृथिव्यादि पाँचों भूतों का लेश भी इसमें नहीं है। इसकी एक और बड़ी विशेषता यह है कि यह जीव-यह आत्मा 'अमृतम्' अमृत है, अर्थात् यह कभी मरता नहीं है। [1]यह सदा अमर बना रहता है। यह वायु-जीव-आत्मतत्त्व ऐसा है कि इसको शस्त्र काट नहीं सकते, इसको अग्नि जला नहीं सकती, इसको, जल गीला नहीं कर सकता और न ही इसको यह वायु सुखा सकती है। इसलिये यह आत्मतत्त्व बड़ा ही विचित्र तत्त्व है।

इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि वेदानुसार हमारे शरीर रूपी रथ के भीतर यह आमतत्व एक ऐसा तत्त्व है जो अजर है, अमर है, नित्य है। इसलिये संसार में कोई कितना भी बलवान् क्यों न हो जाय, कोई कितना ही शक्तिशाली और शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न क्यों न हो जाय, वह इसको कभी मार नहीं सकता, वह इसको कभी काट नहीं सकता, वह इसको कभी जलाकर राख नहीं बना सकता, वह इसे कभी समाप्त नहीं कर सकता...। यह तत्त्व इतना विचित्र है कि न तो यह तत्त्व दिखाई देता है और न ही अन्य वस्तुओं की तरह यह कभी पकड़ में आता है।

---

१ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ गीता २.२३॥

तब यह जो दिखाई देता है, यह जो पकड़ में आता है, यह जो स्पर्श किया जा सकता है, यह क्या है ? तो उसका उत्तर यह है कि—

यह जो दिखाई देता है, स्पर्श किया जा सकता है, यह उस आत्मतत्त्व से भिन्न 'शरीर' है। यह आत्मा और उसके सहायक सूक्ष्म शरीर-सारथि रूप बुद्धि आदि का आश्रय है, ठिकाना है। यह 'शरीर' उस रथी-आत्मातत्त्व से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि जहाँ वह आत्मा अजर है वहाँ यह शरीर जर-जीर्ण होने वाला है, जहाँ वह अमर है वहां यह मर है-समाप्त होने वाला है, नष्ट होने वाला है, जहाँ वह नित्य है वहाँ यह अनित्य है। इसका नाम 'शरीर' है। अपने 'शरीर' नाम से ही यह स्पष्ट करता है कि यह शरीर क्या है ? 'शरीरं शृणातेः, (शृञ् हिंसायाम) कि एक न एक दिन इसका नाश होगा-विनाश होगा। अर्थात् एक न एक दिन यह अवश्यमेव अपने उन्हीं मूल कारणों में विलीन हो जायेगा जिनसे कि यह बना है। उस समय इस शरीर में जो जलीय अंश होगा, वह जल में, जो वायु का अंश होगा, वह वायु में, जो तेज -अग्नि का अंश होगा वह अग्नि में. जो आकाश होगा वह आकाश में समा जायेगा, और जो पृथिवी का अंश होगा वह पृथिवीपर ही शेषपड़ा रह जायेगा, जिसे वेद के शब्दों में कहा गया है-"भस्मान्तँ शरीरम्" अर्थात् इस शरीर की 'भस्ममात्र'–राख मात्र ही अन्त में शेष रह जायेगी। इस–लिए जहाँ आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसको काटा नहीं जा सकता, मारा नहीं जा सकता, गीला नहीं किया जा सकता, सुखाया नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता इत्यादि, वहाँ शरीर के सम्बन्ध में इसके विपरीत यह सब कुछ कहा जा सकता हे कि– उसको काटा भी जा सकता है, मारा भी जा सकता है, गीला भी किया जा सकता है, सुखाया भी जा सकता है। और

यहाँ तक कि जला कर राख भी बनाया जा सकता है, जैसे कि वेद में "भस्मान्तँ शरीरम्" स्पष्ट कहा ही गया है। अर्थात् यह शरीर ऐसा है जिसके परिणाम में अन्त में भस्म ही शेष रह जायेगी।

वेद ने यहाँ चालीसवें अध्याय के १५ वें मन्त्र में ऐसा एक दृश्य उपस्थित किया है कि उससे मनुष्य में सहज ही वैराग्य का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सारे उपर्युक्त क्रम से सहज ही उत्पन्न हुए वैराग्य के कारण मनुष्य को सहज रूप से संसारा-भिमुख उत्पन्न होने वाली उत्सुकता समाप्त सी हो जाती है। और तब वह साधक कुछ शान्त रूप से बैठ सकने में समर्थ भी हो जाता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में फिर उसको न तो किसी को विशेषरूप से देखने की इच्छा उत्पन्न होती है, न मिलने की और न सुनने आदि की। परन्तु यहसब होता तभीहै जबकि वह वास्तविक रूप में उपयुक्त प्रकार से सब कुछ करता रहे, अन्यथा प्राय: वही स्थिति होती है सबकी, जो यक्ष के के निम्न प्रश्न के उत्तर में धर्मराज युधि-ष्ठिर ने बतलायी थी...। यक्ष ने महाराज युधिष्ठिर से पूछा था कि "महाराज ! संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है ? युधिष्ठिर जो बोले कि—

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषा: स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमत: परम् ॥"

"संसार में सब लोग नित्य प्रति मनुष्यों को अपनी आँखों के सम्मुख मरते हुए देखते हैं, श्मशान की ओर जाते हुए देखते हैं, परन्तु फिर भी शेष सब यही सोचते रहते हैं कि हम तो सदा यहीं बने रहेंगे। इससे बढ़कर संसार में और कौन सा बड़ा आश्चर्य हो सकता है !"

परन्तु यहाँ तो साधक को इतना वैराग्य हो गया कि उसका तो संसार के प्रति उत्साह की समाप्त होने लगा और वह कुछ शान्त और उदास सा हुआ-हुआ किसी उस तत्त्व को खोजने लगा जो कि उसको इस स्थिति से ऊपर उठा सके। यह सब वह सोचता अवश्य है पर उसे कोई राह नहीं सूझती, और न ही यह सूझता है कि इसके लिये वह किसके द्वारा पर अलख जगाए।

ऐसी परिस्थिति में यदि वह साधक वास्तव में सच्चा पात्र होता है, और हृदय से वह यह जिज्ञासा करता है कि अब वह क्या करे ? तो उसको प्रभु कृपा से खोजने पर तब सहज ही में ऐसा ज्ञानी मिल जाता है वा भीतर से ही प्रभु की ओर से कुछ ऐसी स्फुरणा हो जाती है कि उससे उसको सन्तोष हो जाता है। तब वेद के शब्दों में उसे यह आदेश मिलता है यह उपदेश मिलता है कि- "ओ३म् क्रतो स्मर"-क्रतो ! ओ३म् स्मर!" हे कर्मशील साधक ! हे यज्ञशील साधक ! तू ओ३म् का स्मरण कर।

कई महानुभाव साधना के पथ पर चलकर ऐसा सोचने लगते हैं कि जैसे उनके लिए कुछ कर्म करना शेष ही न रह गया हो। पर वेद का कहना यह है कि-'हे मनुष्य ! तू ओ३म् का स्मरण कर, पर कर्म की अवहेलना मत कर। कर्म की-शुभ कर्म की-यज्ञमय कर्म की-श्रेष्ठतम कर्म की-उत्तमोत्तम कर्म की अवहेलना न कर,क्योंकि तेरा नाम "क्रतु" है। अतः तू इन शुभ कर्मों को निरन्तर करता रह, और यथा समय 'ओ३म्' का भी स्मरण करता रह, 'ओ३म् का ध्यान भी करता रह। यह निश्चय है कि जितना-जितना साधक अपने कर्मों को क्रतुमय-यज्ञमय-परोपकारमय-निःस्वार्थमय बनाता रहेगा उतना ही उतना उसके 'ओ३म् स्मरण' में भी रस भरता चला जायेगा।

वेद का कहना यह है कि 'ओ३म्' का स्मरण करते हुए भी उनका मन साधना में नहीं लगता, तो ऐसे व्यक्तियों के लिए वेद का आदेश है कि वे उस प्रभु के गुण-कर्म-स्वभावों का चिन्तन पूर्वक स्मरण करें। इतना ही नहीं, वेद और आगे बढ़कर कहता है कि वे साधक 'ओ३म्' का इच्छा पूर्वक स्मरण करें-अन्तः करण की टीस के साथ उसका स्मरण करें-भीतर की चाहना पूर्वक उसका स्मरण करें, तभी उनको लाभ होगा। परन्तु होता इसके विपरीत है, क्योंकि हम प्रायः उस प्रभु को स्मरण करते हुए उसको हृदय से नहीं चाह रहे होते हैं, वरन् उससे धन-वैभव, पुत्र-कलत्र रूप साँसारिक सुख-सौभाग्य आदि ही चाह कर रहे होते हैं।

कईयों का कहना यह है कि "हम" से प्रातः उठ कर यह सब कुछहोता नहीं,क्योंकि प्रातः ही तो नींद का बढ़िया समय होता है।" ऐसे व्यक्ति को वेद उपदेश देता है कि –

"हे मानव ! तू अपनी सामर्थ्य को स्मरण कर। परमेश्वर के उपरान्त तुझ वायु में-तुझ आत्मा में जितनी शक्ति है जितनी सामर्थ्य है, उसका क्या ठिकाना ! इसलिए जिस दिन तू अपनी सामर्थ्य को पहचान लेगा, उसी दिन से तू बहुत कुछ कर सकने के योग्य बन जायेगा। तुझे सदा यह ध्यान रहना चाहिये कि तेरा नाम "वायु" है। तू कहता है कि "ये बाधाएं हैं, ये रुकावटें हैं, ये कठिनाईयाँ हैं, ये मुसीबतें हैं" पर हे प्रिय साधक ! यह सभी कुछ तभी तक है जब तक कि इस संसार में इस मन्द मन्द रूप से प्रवाहित होने वाली वायु सम तू चल रहा है। जिस दिन तू इस वगवान् वायु के समान आंधी का रूप धारण कर लेगा, उसी दिन से ही ये सभी बाधायें समाप्त हा जायेंगी-ये सभी कठिनाईयाँ समाप्त हो जायेंगी।

अतः हे वायो ! हे क्रतो ! तू हिम्मत से काम ले, और जरा साहस से आगे बढ़, फिर देख कि तू क्या कुछ नहीं कर सकता, एवं क्या कुछ नहीं बन सकता ।"

इतने पर भी यदि कोई कहता है कि 'मेरा मन लगता नहीं, मुझ से साधना होती नहीं, तो वेद ऐसे साधक को उपदेश देता है कि—"हे साधक ! तू अपने कृत्यों का स्मरण कर—अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर। यदि तू ने कोई ऐसा कर्म किया हो कि जिससें दूसरों को सुख पहुंचा हो, जिससें दूसरों का हृदय गद्गद् हुआ हो, जिसस दूसरों को प्रसन्नता हुई हो, तो ऐसे कर्मों को जीवन में पुनः पुनः तू सबके प्रति किये जा। और यदि कर्मों का स्मरण करते हुए अपने जीवन का कोई ऐसा कर्म तुझे याद आ जाए कि जिसके करने पर दूसरों को दुःख पहुंचा हो, दूसरों को हानि हुई हो, दूसरों की आकृति कुम्हला गई हो, जिससे दूसरो का दिल टूट गया हो, तो ऐसे कर्म के लिए तू प्रभु साक्षी में प्रायश्चित कर, और पुनः उसको कभी न करने का प्रभु साक्षी में सङ्कल्प करते हुए उस प्राणप्रिय 'ओ३म्' का स्मरण कर, भजन कर ! फिर देखना कि मन उसमें लगता है या नहीं, आत्मा उसमें विभोर होता है या नहीं !

इस ओ३म् के निरन्तर स्मरण आदि के अतिरिक्त भी हे साधक! तुझे सदा स्मरण रखना चाहिये कि तेरा नाम 'वायु' है। अब यह वायु जैसे तेरे भवन के एक द्वार से प्रवेश करती और दूसरे द्वार से निकल जाती है, ऐसे ही तू भी इस शरीर में जैसे कभी आया है, वैसे ही कभी तू इसमें से निकल भी जायेगा। इस तथ्य को सदा सामने रखने से संसार में आसक्ति के स्थान पर तुझ में कर्त्तव्य बुद्धि रहेगी और फिर तू वैराग्यपूर्ण भाव से इस संसार में वर्तता हुआ अपने ध्येय की ओर अबाधगति से निरन्तर

बढ़ता रहेगा।

यजुर्वेद में अन्यत्र कहा गया है कि हे साधक! "ओ३म् प्रतिष्ठ" तू ओ३म् में प्रतिष्ठित हो। ओ३म् में प्रतिष्ठित होने का अर्थ यह है कि अपने हृदय में सदा उस 'ओ३म्' को प्रतिष्ठित कर, सदा उसका ध्यान कर।" कईयों का कहना यह है कि "हम उस निराकार ओ३म् का कैसे ध्यान करें? क्योंकि उसका कोई रूप है नहीं, कोई आकृति है नहीं, तो फिर भला किस प्रकार हम उसका ध्यान कर सकते हैं?" ऐसे व्यक्तियों के अनुसार ध्यान किसी बाह्य रूप रंग वाली वस्तु को भीतर हृदय में लाने का नाम है, परन्तु विचार करें तो बात सर्वथा इसके विपरीत है। ध्यान वास्तव में बाहर से किसी वस्तु का भीतर लाने को नहीं कहते, वरन् भीतर हृदय में जो कुछ भी वर्तमान होता है, उस सबको बाहर निकाल देने का नाम ही ध्यान है। इसीलिये साँख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि जी ने कहा है कि [1]"ध्यान निर्विषय मनः" वास्तव में ध्यान मनको निर्विषय करने को कहते हैं। अब मनको निर्विषय करने का अर्थ यह है कि जिस जागृतावस्था में मन इन्द्रियों से काम लेता है वह जागृतावस्था भी समाप्त हो जाए जिसमें कि मन भीतर ही भीतर कार्य करता रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साधक जागृतावस्था में ही अपना वह स्थिति बना ले जो सुषुप्ति में हुआ करती है, जिसमें कि मनका पूर्णतया इन्द्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है और वह निष्क्रिय निर्विषय बना रहता है।

---

१ योगदर्शन के अनुसार-ध्येय पदार्थ में होने वाली चित्तवृत्ति की एकतानता को ध्यान कहते हैं। इस प्रकार यदि हम 'ओ३म्' का ध्यान करें तो उस 'ओ३म्' की हमें एक रस प्रतीत होती रहे। उस के मध्य में हमें फिर कोई और प्रतीति न होवे।

आत्मा की दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। एक तो वह जो सूक्ष्म और स्थूल शरीर द्वारा जगत् में कार्य करती है जिसे कि आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं। दूसरी वह जो आत्मा के भीतर कार्य करती है जिसे कि अन्तर्मुखी वृत्ति कहते हैं। इन दोनों वृत्तियों में हर समय एक वृत्ति कार्य किया करती है। न ही ये दोनों वृत्तियाँ एक साथ कार्य करती हैं और न ही ये दोनों वृत्तियाँ एक साथ बन्द होती हैं। यदि एक वृत्ति बन्द कर दी जाए तो दूसरी स्वयमेव काय करने लगती है।

बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द करने का नाम ही मनका निर्विषय करना है। मन के निर्विषय करने का नाम ही ध्यान का निरन्तर अभ्यास है। इस प्रकार मन के निर्विषय हो जाने मात्र से आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव प्रवृत्त हो जाती है। जिस प्रकार नहर का द्वार बन्द कर देने से समस्त जल स्वयमेव सहज स्वभाव से ही नदी की धारा में प्रवाहित होने लगता है। उसके लिये तब कोई यत्न विशेष नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार नहर रूपी बाह्य वृत्ति के अवरुद्ध हो जाने पर आत्मारूपी नदी में अन्तर्मुखी वृत्ति रूप जल स्वयमेव प्रवाहित होने लगता है।

यदि साधक निरन्तर ऐसे अभ्यास करता रहेगा तो वह दिन दूर नहीं रहेगा जबकि वह अपने प्राणप्रिय प्रभु में प्रतिष्ठित हो सकेगा, और उससे प्रवाहित होने वाले आनन्द से अपने को आप्लावित कर सकेगा।

—०—

ईशप्रणिधान-अनन्त, अविनाशी परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण

इतना सब करने पर भी जब साधक को कुछ हाथ-पल्ले नहीं पड़ता, अर्थात् निरन्तर चलते-चलते थक कर चूर-चूर हो जाने पर भी जब उसको कुछ बनता हुआ दिखाई नहीं देता, तो वह उस समय उस नन्हें बालक के समान अन्त में हार कर उस परम माँ के चरणों में समर्पित हो जाता है जो बालक कि अभी घुटनों के बल चलता है और भूख लगने पर जब वह बालक घुटनों के बल चलते-चलते खड़ी हुई अपनी माँ के चरणों तक पहुँच तो जाता है, परन्तु इतने से उसकी भूख की निवृत्ति तो नहीं होती। इस प्रकार जब बच्चा अपनी माँ के चरणों तक पहुँचने में थक कर चूर हो जाता है तो फिर वह अन्त में हार कर उसके चरणों में पड़ा-पड़ा ही उसकी ओर बड़ी आशा-भरी दृष्टि से निहारने लगता है। उस समय माता के हृदय में उस बालक को देखकर उसके प्रति बड़े स्नेह एवं कृपा भरे भाव उमड़ने लगते हैं। बस उन्हीं भावों में भर कर माँ उस बालक को गोद में उठाकर अमृतरूप दुग्ध पिलाकर उसे तृप्त कर चैन से सुला देती है। ठीक इसी प्रकार से वह साधक प्रभु की ओर आगे बढ़ते-बढ़ते प्रभु के प्यार और आशीर्वाद पाने के लिये अपने को पात्र बनाते-बनाते पूर्ण पुरुषार्थ करके जब सब प्रकार से थक कर चूर हो लेता है और फिर भी उसको जब सफलता मिल नहीं पाती, तो वह भी अन्त में उस घुटनों के बल चलने वाले बालक के समान हार कर उस प्रभु के चरणों में अपने को समर्पित कर देता है, और उसकी दया और कृपा पर अपने को छोड़ देता है। वेद के अनुसार उसी प्रभु से प्रार्थना करते हुए तब वह भक्त कहने लगता है—

हे सब का नेतृत्व करने वाले ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप प्रभो! मैंने बहुत प्रयास किया कि किसी प्रकार अपने आपको सब प्रकार

से धो-धा कर, शुद्ध पवित्र बनाकर तेरे स्नेह और आशीर्वाद का पात्र बना सकूं, तेरे अपार अनुग्रह से बिभोर हो कर गुणगान कर सकूं और तेरा साक्षात्कार कर सकूं। परन्तु बहुत कुछ पुरुषार्थ करने पर भी अन्त में मैंने हार कर तेरे ही चरणों पर अपने को डाल दिया, इस आशा और विश्वास से कि अब तू ही अपनी अनु-कम्पा से मुझे उठायेगा, मुझे उभारेगा। वेदगत भावों में भक्त कहता है—

हे दिव्य प्रकाश के अनुपम स्रोत प्यारे प्रभो! अब तू ही मुझे दिव्य आध्यात्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये-अर्थात् सर्वदुःख निवृत्ति पूर्वक दिव्य आनन्द की उपलब्धि के लिये सुपथ से ले चल। हे पावन परमेश्वर! मैं बहुत कुछ सोचने-विचारने पर भी अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये कई बार यह निर्णय नहीं कर पाता कि 'यह सुपथ है वा कुपथ ? इसलिये यह अब मैंने तुझ पर ही छोड़ दिया है कि तू ही मुझे बताये, कि कौन सा सुपथ है और कौन सा कुपथ है ताकि कुपथ से हट कर मैं सुपथ पर चल सकूँ।

हे दिव्य देव! तू मेरे भीतर उत्पन्न होने वाली सर्वविध वृत्तियों को जानता है। ऐसी कोई वृत्ति नहीं,ऐसा कोई विचार नहीं जिसे कि मैं तुझ से छिपा सकूं। अतः हे सर्वज्ञ परमात्मन्! जो भी मेरे भीतर उत्पन्न होने वाला कुविचार हो वा उस कुविचार के आधार पर कुटिलता पूर्वक किया जाने वाला पाप कर्म हो, उसे तू मुझ से सब प्रकार से पृथक् कर, जिससे कि मैं सब प्रकार से निष्पाप और निष्कलङ्क होकर, शुद्ध-पवित्र होकर तेरा जी भर कर गुणगान कर सकूँ।

हे प्यारे परमेश्वर! मुझे ऐसा अनुभव होता है कि ये मेरे भीतर के पाप ही ऐसे हैं जो मुझे तुझ से मिलने नहीं देते, तेरा

अद्वितीय स्नेह और आशीर्वाद मुझे पाने नहीं देते, तेरा साक्षात्कार मुझे करने नहीं देते। हे प्यारे और सब जग से न्यारे परमात्मन्! तू मेरे इन पापों का हरण कर। प्रभुवर! यदि मेरे हार्दिक पुरुषार्थ और तेरी अपार अनुकम्पा से ऐसा हो गया तो फिर मुझे विश्वास है कि मैं फिर झूम-झूम कर तेरा गुणगान कर सकूंगा।

हे प्रकाशमान् प्रभो! अब बहुत कुछ हो चुका, अब नहीं रहा जाता तेरे दर्शनों के बिना! अतः अब तू ऐसी कृपा कर कि मैं तुझ में अनन्यचित्त हुआ-हुआ तुझ में ही समाधिस्थ हुआ-हुआ तेरा साक्षात्कार कर सकूँ, तेरा दर्शन पा सकूँ, तेरा आत्मना साक्षात् अनुभव प्राप्त कर सकूँ।

ईश्वर साक्षात्कार-ईशानुभूति

यह विषय ऐसा है कि बड़ी श्रद्धा और उत्साह से सम्पन्न होकर जब साधक उस अनन्त-अविनाशी परमेश्वर की ओर अग्रसर होता है तो परमेश्वर स्वयं ही कृपालु होकर उस पर अनुग्रह करता है, और तब उसे ईशानुभूति होती है। यह ऐसा तत्त्व है कि आत्मा से ही इसका अनुभव सम्भव है, प्रवचन आदि अन्य साधनों से यह अनुभव में आता नहीं जैसा कि उपनिषद् में भी कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
कठ० १-२-२३ ॥

अर्थात् यह परमात्मा प्रवचन से, बुद्धि से और बहुश्रुत-बहुविध शास्त्रों का ज्ञाता होने से नहीं प्राप्त होता है। उपनिषद् का कहना है कि जिसको वह प्रभु स्वयं वरण कर लेता है, उसी के सम्मुख वह अपना स्वरूप प्रकट कर देता है।" उपनिषद् के इस कथन से यह स्पष्ट हुआ कि वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर अपने अपार अनुग्रह से उपासकों को, साधकों को प्राप्त हुआ करता है। परन्तु उसका अनुग्रह मनुष्य पर कब होता है, उसकी कृपा का पात्र मनुष्य कब बनता है? तो इसका उत्तर यह है कि जब साधक अपने ज्ञान और कर्म को अत्यन्त उन्नत करके अपने अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि में अपने आपको पूर्णतया थका लेता है। तभी वह प्रभु उस पर अनुग्रह करता है। जैसे कि ऋग्वेद में कहा गया है कि—

1"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥" अर्थात् मनुष्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति में पुरुषार्थ करते-करते जब तक अपने को थका नहीं लेता तब तक वह परमेश्वर की कृपा का पात्र नहीं बनता। सो यहाँ साधक इतना थक गया है, इतना हार गया है कि वह उस प्रभु के प्रति पूर्णतया समर्पित होकर उसके चरणों में पड़कर अब इस आशा भरी

---

१ ऋ० ४.३.१२

दृष्टि से उसकी ओर निहार रहा है कि अब कब उसका प्राणप्रिय प्रभु उस पर कृपा करता है।

ऐसे सब प्रकार से थके हारे हुए समर्पित भक्त के प्रति प्रभु कृपायमाण होकर कहते हैं कि—

"हे साधक ! हिरण्यमय पात्र से–सुवर्णमय पात्र से–ढक्कन से सत्य का मुख ढका हुआ है। अर्थात् इस संसार की चमक–दमक ने ही, संसार के भोग-विलासों के नानाविध आकर्षणों ने ही मुझ उस अजर-अमर, अनन्त, अविनाशी, नित्य, पवित्र, सत्य स्वरूप तेरे प्राणप्रिय प्रभु को तुझ से ओझल कर रखा है। इन्हीं सांसारिक सुख सौभाग्य के लुभावने विषयों से तुम्हारी भीतर की आँखे ऐसी चुन्धिया गई हैं कि तू मुझ को देख ही नहीं पाता।

हे प्रिय उपासक ! तू जरा दृढ़ता से साहस पूर्वक इस हिरण्य-मय चमकीले ढक्कन को हटा, इस आकर्षों से सम्पन्न भोग-विलासों के चमकीले आवरण को-पर्दे को अपने भीतर स उठा, अर्थात् एक बार अपने आपको सब प्रकार से ध्यान द्वारा निर्विषय बना, फिर देखना कि मैं तुझे दीखता हूँ या नहीं! फिर देखना कि मेरा आनन्द स्रोत तेरी ओर प्रवाहति होता है या नहीं !

हे मेरी प्रेरणाओं एवं सदुपदेशों से अपने को सब प्रकार से धो-धाकर, सब प्रकार से निर्विय बनाकर भीतर को टीस के साथ उपस्थित हुए मेरे प्रिय उपासक ! मैं इतना ही नहीं हूँ जितने की कि तुझ भीतर ही भीतर अनुभूति हो रही है, मैं यहीं पर ही नहीं हूँ जहाँ कि तुझे मेरा साक्षात्कार हो रहा है, वरन् जो उस आदित्य में-सूर्य में 'पुरुष' है, वह भी मैं हा हूँ। इस प्रकार मैं आकाश के समान यहाँ-वहाँ अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा हूँ। कोई वस्तु–व्यक्ति वा स्थान ऐसा नहीं है जो मुझ से बाहर हो। सब मेरे भीतर हैं और सबके भीतर मैं रम रहा हूँ। गुणों में, कार्यों में और स्वभावों में मैं

सबसे बड़ा, सबसे महान्, सबसे ज्येष्ठ और सबसेश्रेष्ठ हूं। मेरा निज नाम 'ओ३म्' है। जो भी उपासक तेरी तरह अनन्यभाव से एवं सत्यमय प्रिय आचरणों से युक्त होकर मेरा आश्रय लेता है, मेरा स्मरण करता है, मेरा ध्यान करता है, मैं अन्तर्यामी रूप से उसकी सब प्रकार से रक्षा करता हुआ-उसके भीतर के अविद्या-अन्धकार का हरण कर, उसके आत्मा में प्रकाश कर, उसे सब दुःखों से छुड़ाकर उसको तेरी तरह ही अमृतत्त्व की प्राप्ति कराता हूँ।

इस प्रकार प्रभु का साक्षात् कर भक्त तब सब प्रकार से उस अनन्त अविनाशी प्रभु में समाधिस्थ सा हुआ-हुआ, सर्वदा आनन्द विभोर सा हुआ-हुआ, जागृतावस्था में भी सुषुप्ति सम समाधि का आनन्द अनुभव करता हुआ, जीवन मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। और अन्त में कर्मभोग चक्र के पूर्णतया समाप्त होते ही वह इस स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से भी सर्वथा मुक्त होकर निःश्रेयस को पा लेता है, परम गति को पा लेता है।

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन द्वारा श्रद्धापूर्वक दान देने वाले महानुभावों के सहयोग से लेखक की प्रकाशित पुस्तकें :—

क्रम सं०	नाम पुस्तक	प्र० सं०	द्वि०सं०	तृ०सं	च० सं०
१	प्रार्थना सुमन, भाग–१	११००	४०००	४०००	४०००
२	कौन चैन की नींद नहीं सो सकते और उसके उपाय	२०००	२०००	४०००	४०००
				पं० सं०	४०००
३	वेद सुधा भाग-१	२०००	४०००	४०००	
४	विदुर जी की दृष्टि में बुद्धिमान् कौन ? भाग-१	२०००	४०००	४०००	
५	महान् विदुर के महान् उपदेश	२०००	४०००		
६	वेद सुधा, भाग-२	२०००	४०००	४०००	
७	विनय सुमन, भाग-१	२०००	४०००	४०००	
८	प्रार्थना प्रदीप, भाग-१	२०००	४०००	४०००	
९	प्रार्थना प्रसून, भाग-१	२०००	४०००	४०००	
१०	प्रार्थना सुमन, भाग-२	२०००	४०००	४०००	
११	विनय सुमन भाग–२	२०००	४०००	४०००	
१२	अनन्त की ओर	२०००	४०००	४०००	४०००
१३	वैदिक पुष्पाञ्जलि, भाग-१	२०००	४०००		
१४	,, भाग-२	२०००	४०००		
१५	,, भाग-३	२०००	४०००		
१६	,, भाग-४	४०००			
१७	वैदिक गृहस्थाश्रम (सुखी गृहस्थ	३०००	४०००	४०००	४०००
१८	प्रभात वन्दन	३०००	४०००		
१९	शयन विनय	४०००			
२०	वेदोपदेश भाग–१	४०००	४०००		
२१	वैदिक रश्मियाँ, भाग-१	४०००	४०००		

२२ विनय सुमन, भाग-३	३०००	४०००
२३ विदुर जी की दृष्टि में बुद्धिमान् कौन ? भाग-२	४०००	४०००
२४ वैदिक आदर्श परिवार भाग-१	४०००	४०००
२५ वैदिक रश्मियाँ, भाग-२	३०००	४०००
२६ ब्रह्मयज्ञ (वैदिक सन्ध्या)	४०००	४०००
२७ वैदिक रश्मियाँ, भाग-३	३०००	४०००
२८ पावमानी "वरदा वरदा वेदमाता"	३०००	४०००
२९ यम नियम	४०००	४०००
३० जीवन गाथा (माता भागवन्ती)	४०००	३०००
३१ ईशोपनिषद्	४०००	
३२ नचिकेता के तीन वर	४०००	
३३ यज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद	४०००	४०००
३४ यज्ञ सुधा	४०००	
३५ पावन-धारा	४०००	
३६ कहाँ है वह ?	४०००	
३७ वैदिक रश्मियाँ भाग-४	४०००	

आंग्ल भाषा में प्रकाशित साहित्य

१ Quest For The Infinite 2000

शीघ्र ही आगे प्रकाशित होने वाली पुस्तकें।

२ क्रिया योग

३ अष्टांग योग

४ वेदोपदेश, भाग-२

५ वैदिक आदर्श परिवार भाग-२

नोट:-पुस्तक विक्रेता आदि को "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" के लिये २) रु० ५० पैसे मात्र दान देकर भी यह पुस्तक प्राप्त की जा सकती है।

मुद्रक :- ओम् प्रिंटर्स एण्ड स्टेशनर्स, मो० नीलखुदाना, ज्वालापुर